जीवन्मुक्तिविवेक

एक आलोचनात्मक अध्ययन



0 विजयना

सम्मतियाँ

वेदान्त के क्षेत्र में डॉ० गुप्त का शोधप्रबन्ध महनीय योगदान है। मैं डॉ० गुप्त की विद्वत्ता एवं विद्यानुराग से भी प्रभावित हुआ हूँ।

प्रो० राममूर्ति शर्मा

कुलपति, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी

यह कृति शाङ्कर अद्वैत वेदान्त के एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ विद्यारण्य-प्रणीत जीवन्मुक्तिविवेक का प्रामाणिक, साङ्गोपाङ्ग अध्ययन है, जिसके लिए डॉ० गुप्त बधाई के पात्र हैं।

डॉ० हर्षनारायण

लखनऊ

(पूर्व अध्यक्ष, दर्शन विभाग , नार्थ-हिल युनिवर्सिटी, शिलांग)

भारतीय चिन्तन में मुक्ति का आध्यात्मिक मूल्यांकन सदा से होता रहा है। प्रस्तुत प्रबन्ध उसी धारा की एक तरंग है। वर्तमान सामाजिक विसङ्गतियों से उकताये हुए आज के जनजीवन को सहलाने की क्षमता है इस शोधप्रबन्ध में। सरल भाषा में दार्शनिक गुत्थियों को जिस सुगम सुबोध शैली में डॉ० गुप्त ने अपने प्रबन्ध में सुलझाने में सफलता पाई है, वह सर्वथा स्तुत्य है। इस ग्रन्थ के प्रकाशन से जनता का कल्याण होगा।

पं० राजकुमार शुक्ल

सेवानिवृत्त रीडर, संस्कृत विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय

(शेष [illegible] ३ पर)

जीवन्मुक्तिविवेक

एक आलोचनात्मक अध्ययन



डॉ० विजयनारायण गुप्त

गोपालगोविन्द-प्रकाशन,
कानपुर

यह पुस्तक "केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय (मानव संसाधन विकास मंत्रालय) के संस्वीकृति पत्र सं० 5-78/94 के. अनु.एकक दिनांक 8.10.96 के माध्यम से प्राप्त वित्तीय सहायता से प्रकाशित" हुई है। "कापी राइट अनुदानग्राही के पास है"।

प्रस्तुत शोधप्रबन्ध पर इलाहाबाद विश्वविद्यालय की डी. फिल्. उपाधि सन् 1983 ई० में स्वीकृत हुई।

प्रथम संस्करण : 1999; 1100 प्रतियाँ

प्रकाशकः
गोपालगोविन्द-प्रकाशन
128/9 बी. जी ब्लाक, किदवईनगर, कानपुर -208011

मूल्य : रु० 33/-

मुद्रकः आभिजात्य प्रिण्टर्स, कानपुर

समर्पण

परमपूज्य पितृदेव स्वनामधन्य
श्रीयुत सुन्दरलाल जी गुप्त
की पुण्यस्मृति को
श्रद्धोपेत, सादर समर्पित

अनुक्रम

Prof. Adya Prasad Mishra
Ex.Vice- Chancellor
Allahabad University
President's Awardee

Phone: 641846
26 Balrampur House
Allahabad-211002

ग्रन्थावतरणिका

'जीवन्मुक्तिविवेक' अद्वैत वेदान्त के वर्चस्वी आचार्य स्वामी विद्यारण्य की एक विशिष्ट कृति है जिसमें एक महनीय जीवन-दर्शन प्रस्तुत किया गया है। मुमुक्षु साधकों एवं संन्यासियों के कर्तव्यों का विवेचक होने से यह ग्रन्थ एक प्रकार से उनकी आचारसंहिता समझा जाना चाहिए। इसी कृति का एक आलोचनात्मक अध्ययन इस प्रबन्ध का विषय है।

विद्वान् लेखक ने विविध दार्शनिक मतों के उल्लेखपूर्वक परमपुरुषार्थ (मोक्ष) की परिकल्पना पर विस्तृत प्रकाश डाला है। आत्मज्ञान ही मोक्ष का साधन भी है और स्वरूप भी। यह नित्यज्ञान या चिति आनन्द रूप है, अतः मोक्ष में जन्म मरणादि दुःखों या अनर्थों का अभाव स्वतः सिद्ध है। इस मोक्ष के साधन श्रवण-मनन-निदिध्यासन बताए गए हैं। जीवन्मुक्ति का तात्पर्य जीवित अवस्था में ही ज्ञान प्राप्त करके जन्मादि समस्त बन्धनों को उत्पन्न करने वाले मूल बन्धन 'अज्ञान' का नाश कर देना है जिससे देह त्यागानन्तर पुनर्देह ग्रहण रूप जन्मादि का अभाव होने से विदेहमुक्ति स्वतःसिद्ध या प्राप्त हो जाती है। लेखक ने मूल ग्रन्थकार के प्रामाण्य पर यह स्पष्ट किया है कि मुक्ति तो वस्तुतः एक ही है। जब उसका अनुभव जीवित दशा में होता है, तब वह 'जीवन्मुक्ति' कहलाती है और शरीरपात होने पर अनुभूत होने पर वही 'विदेहमुक्ति' कही जाती है।

जीवन्मुक्त ज्ञानी पुरुष की आत्मस्वरूप में स्थिति होती है। इस जीवन में ही साधक परब्रह्म रूप हो जाता है।

विद्यारण्य के प्रातिभ व्यक्तित्व के विवेचन में यह दिखाया गया है कि माधवाचार्य (विद्यारण्य) का आविर्भाव सांस्कृतिक विश्रृङ्खलता के उस युग में हुआ था जब वैदिक

धर्म एवं संस्कृति लुप्तप्राय हो रही थी। उन्होंने अपने उपदेश एवं लेखन कार्य, दोनों के ही द्वारा प्राचीन हिन्दू-परम्पराओं और संस्कृति को पुनर्जीवन प्रदान किया। आचार्य पद्मपाद द्वारा मूलाधारित एवम् आचार्य प्रकाशात्म यति द्वारा प्रवर्तित अद्वैत दर्शन की विवरण परम्परा में विद्यारण्य को प्रतिष्ठित किया गया है। विद्यारण्य के ग्रन्थ अद्वैत दर्शन की अमूल्य निधि कहे गए हैं।

वेदान्त के महत्त्व को प्रतिपादित करते हुए यह सिद्ध किया गया है कि अद्वैत दर्शन ही सर्वथा कल्याणकारी है।

डॉ० गुप्त की सर्वाङ्ग-सम्पन्न प्रस्तुत कृति दार्शनिक-वाङ्मय की महती उपलब्धि है, ऐसा हमारा दृढ़ मत है। हम डॉ० गुप्त को ऐसे उपयोगी ग्रन्थ को प्रकाश में लाने के लिए धन्यवाद देते हैं। शिक्षा विभाग से सम्बद्ध न रहते हुए भी जिस प्रौढ़ि एवं परिपक्वता का परिचय उन्होंने इस पुस्तक में दिया है, वह भारतीय दर्शनों, विशेषतः अद्वैत वेदान्त के शिक्षकों-आचार्यों के लिए अनुसरणीय है। हमारा स्नेहसिक्त आशीर्वाद उनके साथ है।

प्रो० आद्या प्रसाद मिश्र

पूर्वकुलपति इलाहाबाद विश्वविद्यालय

Professor Rajendra Mishra
Head of the Sanskrit Deptt.
Himachal Pradesh University,
Shimla-5

114 Teacher's Hostel
Summer Hill,
Shimla 5
Phone: 231407 (R)

स्वस्तिवाक्

प्राध्यापक के जीवन में कुछ प्रतिभाशाली विनम्र शिष्य मीठी स्मृति छोड़ जाते हैं। १० दिसम्बर ९९ ई० को परिपूर्ण, मेरे तेंतीस वर्षों के अध्यापनकाल में भी एक ऐसा ही प्रातिभ-योग जुड़ा है जिसे मैं 'विजयनारायण गुप्त' के रूप में अनुभव करता हूँ। यह जान कर हार्दिक सुखानुभूति हो रही है कि उन्ही डॉ० विजयनारायण गुप्त का डी. फिल्. शोध प्रबन्ध अब पुस्तकरूप में प्रकाशित हो रहा है।

विजय एम.ए. कक्षाओं में मेरे प्रिय छात्र रहे- इलाहाबाद विश्वविद्यालय में। उन दिनों इस विश्वविद्यालय में पठन-पाठन का अद्भुत वातावरण था। ज्ञानपिपासु छात्र कक्षा-व्याख्यानों के अनन्तर भी हमारी सन्निधि में उपस्थित रहते थे। विविध विषयों पर गहन चर्चाएँ होती थीं और 'इतिकर्तव्यता' की सुखद अनुभूति से मन गद्गद हो उठता था।

विजय से मेरे अतिरिक्त जुड़ाव का एक विशेष कारण भी था- उनकी कवित्वप्रतिभा! वह कान्यकुब्ज की उर्वर माटी की देन थे जहाँ कभी कवि - पण्डित श्रीहर्ष की कवित्व-प्रतिभा का शंखनाद गूँजा था। विजय की जन्म भूमि 'तिरवा' में भी हिन्दी कवि सम्मेलनों के आयोजन की स्वस्थ परम्परा थी जहाँ मैं स्थानीय कविमित्रों के स्नेहपूर्ण आग्रह पर प्रायः प्रतिवर्ष जाया करता था। इस प्रकार विजयनारायण के साथ मेरा गुरु-शिष्य जैसा औपचारिक सम्बन्ध ही नहीं, एक आत्मीय कौटुम्बिक सम्बन्ध भी था जिसके कारण वह अन्य प्राध्यापकों की तुलना में मेरे परिवेष में अधिक रहे।

शिष्यों से जुड़े अनेक अनुभव गुरुओं के जीवन में सम्पृक्त रहते हैं। विशेष कर उन 'अनुभवों' को प्राध्यापक सेवानिवृत्ति के बाद भी नहीं भूल पाता जिनका स्वाद यत्किञ्चित् 'कषाय' होता है। इस दृष्टि से यशस्वी शिष्य मात्र वे होते हैं जिनकी स्मृति का स्वाद 'नित्यमधुर' होता है। प्रिय विजयनारायण की स्मृति का स्वाद भी नित्यमधुर ही है। दशकों पूर्व वह विश्वविद्यालय छोड़ चुके और अब राजकीय सेवा में हैं। तब छात्र थे, अब एक दायित्व से भरे-पूरे सद्गृहस्थ हैं। फिर भी पत्राचार द्वारा उन्होंने मेरे अपने बीच एक शाश्वत सारस्वत-सेतु बना रखा है। यह 'सेतुबन्ध' ही

उनके हृदय की निश्छलता तथा गुरुनिष्ठा का साधक प्रमाण है। ऐसे स्नेहमेदुर शिष्य व्यवसायोन्मुख शैक्षिक वातावरण में अब कहाँ मिलते हैं ?

श्री गुप्त शान्त निसर्ग के धनी, एक प्रतिभाशाली छात्र रहे हैं। उन्होंने अपने स्वभावानुसार ही भारतीय दर्शन का विशेष अध्ययन किया तथा मध्यकालीन महान् दार्शनिक स्वामी विद्यारण्य की अमर कृति 'जीवन्मुक्तिविवेक' का समीक्षात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया, जिसके उपलक्ष्य में उन्हें इलाहाबाद विश्वविद्यालय की डी.फिल्. उपाधि से अलंकृत किया गया है। यह शोध प्रबन्ध निश्चय ही एक उत्कृष्ट दार्शनिक उपक्रम है तथा वेदान्त सम्मत मुक्ति-रहस्य को समझने के लिये एक सुलभ सोपान है।

मेरी हार्दिक शुभाशंसा है कि यह ग्रन्थ डॉ० विजयनारायण गुप्त का सारस्वत यशोविग्रह सिद्ध हो । सहकार सार्थक होता है वसन्त ऋतु में प्रतिशाख फल कर और प्रतिभाशाली साधक छात्र सार्थक होता है शोध प्रबन्ध लिखकर ! सुधी पाठक फलकल्प इस प्रबन्ध के स्वाद से तृप्त हों, यही मेरी शुभकामना है, आशीः भी !

सस्नेह

११४ टीचर्स होस्टल
समरहिल, शिमला-५

प्रो. अभिराज राजेन्द्र मिश्र
अध्यक्ष, संस्कृत-विभाग
हिमाचल प्रदेश विश्वविद्यालय
शिमला -५ (हि.प्र.)

प्रो० सुरेशचन्द्र श्रीवास्तव
पूर्व कुलपति

इलाहाबाद-विश्वविद्यालय
इलाहाबाद-२११००२, उ०प्र० (भारत)

आशीर्वचन

वेदान्त, ब्रह्मविज्ञान है। आत्मा की अमरता, जीवब्रह्मैक्य और मानव जीवन में मुक्ति की साधना इसके सिद्धान्त हैं। आत्मस्वरूप की प्राप्ति ही सर्वदुःख निवृत्ति है। यही सत्, चित् और आनन्दमय स्थिति है। इसे उपलब्ध कर व्यक्ति कृतकृत्य हो जाता है। आनन्द की यह चरम स्थिति इस जीवन में ही प्राप्तव्य है। जीवन्मुक्ति का सिद्धान्त, व्यक्ति के इसी जीवन में परमलक्ष्य की प्राप्ति का प्रतिपादन करता है। शाङ्कर परम्परा के मनीषी आचार्य स्वामी विद्यारण्य के वेदान्त ग्रन्थों में 'जीवन्मुक्तिविवेक' एक अप्रतिम रचना है। इसमें मुक्ति सिद्धान्त की सर्वांगीण समीक्षा की गयी है। मेरे प्रिय शिष्य चि० डॉ० विजयनारायण गुप्त ने जीवनमुक्तिविवेक पर एक आलोचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत कर, अत्यन्त महत्वपूर्ण विषय को सरल, सुबोध एवं सुन्दर शैली में निबन्धित किया है।

डॉ० गुप्त अध्ययन काल से ही मेधावी छात्र रहे हैं। उनकी ज्ञान-पिपासा उन्हें सतत् समृद्ध करती रही है। संस्कृत विभाग, इलाहाबाद वि०वि० में विद्यार्थी के रूप में उन्होंने मुझसे योग, वेदान्त एवं सांख्य विषयों में यत्किञ्चित् शिक्षा प्राप्त की है। प्रस्तुत रचना में उन्होंने वेदान्त सिद्धान्त को परम उपादेय सिद्ध करने के लिए अनेक ग्रन्थों का मन्थन कर अद्वैत दर्शन को सर्वथा कल्याणकारी रूप में प्रतिष्ठित किया है।

मैं डॉ० गुप्त के कार्य की सराहना करते हुए इस पुस्तक की प्रस्तुति पर उन्हें साधुवाद देता हूँ।

(प्रो० सुरेशचन्द्र श्रीवास्तव)
पूर्वकुलपति,इलाहाबाद विश्वविद्यालय

निवेदन

वेद भारतीय संस्कृति-धर्म तथा दर्शन के प्राण हैं। भारतीय प्रज्ञा के आदि स्वरूपभूत ये ग्रन्थरत्न ज्ञान की अक्षय निधि हैं। मानवधर्म तथा तत्त्वज्ञान का यही उद्गमस्थान हैं। वेदों का अन्तिम भाग किंवा ज्ञान की सर्वोच्च सीमा होने से उपनिषदों को ही वेदान्त कहते हैं। यह वेदान्त ही ब्रह्मविद्या है। इसमें ज्ञान के चरमोत्कर्ष के दर्शन होते हैं। ब्रह्मविद्या से ही एकात्मरसप्रत्ययसार अवाङ्मनसगोचर स्वयंप्रकाश विज्ञानस्वरूप चेतनानन्दघन ब्रह्म की प्राप्ति होती है। आत्मसाक्षात्कार कराने वाली यह ब्रह्मविद्या ही वेदान्त दर्शन का मूल विषय है। उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र और श्रीमदभगवदगीता-ये वेदान्त दर्शन के तीन प्रस्थान होने से प्रस्थानत्रयी के नाम से जाने जाते हैं। प्रस्थानत्रयी पर भाष्य लिखने वालों में भगवान् श्री शङ्कराचार्य जी का सर्वोत्तम स्थान है और आपने ही सैद्धान्तिक दृष्टि से सुव्यवस्थित रूप में अद्वैतवाद की स्थापना की। अद्वैत वेदान्त की इस शाङ्कर-परम्परा में ही चौदहवीं शताब्दी में श्री माधवाचार्य (जिनका उत्तराश्रम में विद्यारण्य नाम पड़ा) का उदय हुआ। बहुमुखी प्रतिभा के निधान आचार्य माधव ने अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों की रचना की है। 'जीवन्मुक्तिविवेक' उन्हीं की एक वरेण्य रचना है। इसी रचना का एक आलोचनात्मक अध्ययन, मेरी इस प्रस्तुत कृति का विषय है।

आलोच्य ग्रन्थ का विषय परमपुरुषार्थ (मोक्ष) सम्बन्धी है। इस दार्शनिक विषय को सरल, सहज रूप में प्रस्तुत करने का मैंने विनम्र प्रयास किया है। प्रभु-कृपा और गुरु-प्रसाद से इसकी जिस रूप में प्रस्तुति हुई है, उदार चेता विद्वतजन ही उसकी कसौटी हैं।

संस्कृत विभाग, प्रयाग विश्वविद्यालय में मनीषी गुरुजनों की चरणच्छाया मुझे प्राप्त हुई। इस पुस्तक में ग्रन्थावतरणिका इत्यादि शीर्षकों में प्रकाशित सद्विचार उनके औदार्य और स्नेहाधिक्य के ही प्रतीक हैं। कानपुर में प्रो० सेवक वात्स्यायन जैसे आचार्य का सान्निध्य मेरे प्रेरणोत्साह का निरन्तर स्रोत बना हुआ है। आप सभी महानुभावों के प्रति मैं आभार व्यक्त करता हूँ।

मोक्षदा एकादशी, विक्रम संवत् २०५६ — विजयनारायण गुप्त
दिसम्बर-१६,१९९९
कानपुर

संकेत-निर्देश-सूची

अ०ग्र०	-	अच्युत ग्रन्थमाला
अ०ना०उ०	-	अमृतनादोपनिषद्
अ०प्र०	-	अनुभूतिप्रकाश
अ०बि०उ०	-	अमृतबिन्दूपनिषद्
आ०ग्र०	-	आनन्दाश्रम ग्रन्थावलि, पूना।
आप० ध०सू०	-	आपस्तम्बधर्मसूत्र
आरु० उ०	-	आरुणि उपनिषद्
इ०हि०क्वा०	-	इण्डियन हिस्टोरिकल क्वारटरली
ईश०उ०	-	ईशावास्योपनिषद्
उप०	-	उपदेश साहस्री
ऐत०उ०	-	ऐतरेयोपनिषद्
कठ०उ०	-	कठोपनिषद्
का०गी०	-	कावषेयी गीता
का०नि०	-	कालनिर्णय
के०उ०	-	केनोपनिषद्
कै०उ०	-	कैवल्योपनिषद्
कौ०उ०	-	कौषीतकि उपनिषद्
चौ०प्र०	-	चौखम्बा प्रकाशन
चौ०वि०	-	चौखम्बा विद्याभवन
छा०उ०	-	छान्दोग्योपनिषद्
जाबा०उ०	-	जाबालोपनिषद्
जी०मु०वि०	-	जीवन्मुक्तिविवेक
जै०न्या०वि०	-	जैमिनीयन्यायमालाविस्तर
तै०आ०	-	तैत्तिरीय आरण्यक
तै०उ०	-	तैत्तिरीयोपनिषद्
तै०ब्रा०	-	तैत्तिरीय ब्राह्मण
नारा०उ०	-	नारायणोपनिषद्
नि०सा०प्रे०	-	निर्णयसागरप्रेस, बम्बई
नै०	-	नैष्कर्म्यसिद्धि

न्या०सू०	-	न्यायसूत्र
प०उ०	-	पराशरोपपुराण
पञ्च	-	पञ्चदशी
पं०पा०	-	पञ्चपादिका
पं०पा०वि०	-	पञ्चपादिकाविवरण
प०मा०	-	पराशरमाधव
परम०उ०	-	परमहंसोपनिषद्
प्र०उ०	-	प्रश्नोपनिषद्
पृ०	-	पृष्ठ
पु०सू०	-	पुरुष सूक्त
बृह०उ०	-	बृहदारण्यकोपनिषद्
बृह०भा०वा०	-	बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यवार्तिक
बृह०स्मृ०	-	बृहस्पति स्मृति
ब्र०उ०	-	ब्रह्मोपनिषद्
ब्र०बि०उ०	-	ब्रह्मबिन्दूपनिषद्
ब्र०सू० शा०भा०	-	ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्य
भ०गी०	-	भगवद्गीता
भाग०	-	भागवत
भा०द०	-	भारतीय दर्शन
भ०ओ०रि०इ०	-	भण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इंस्टीट्यूट, पूना
भा०सं० और सा०	-	भारतीय संस्कृति और साधना
मनु०	-	मनुस्मृति
म०भा०	-	महाभारत
" "आ०	-	महाभारत आदिपर्व
" "आनु०	-	महाभारत आनुशासनिकपर्व
" "शा०	-	महाभारत शान्तिपर्व
म०ग०ओ०सी०	-	मद्रास गवर्नमेण्ट ओरियण्टल सीरीज
मा०उ०	-	माण्डूक्योपनिषद्
मा०का०	-	माण्डूक्यकारिका
मा०धा०वृ०	-	माधवीयधातुवृत्ति
मु०उ०	-	मुण्डकोपनिषद्

मुक्ति०उ०	-	मुक्तिकोपनिषद्
मै०उ०	-	मैत्रायणीयोपनिषद्
याज्ञ०उ०	-	याज्ञवल्क्योपनिषद्
याज्ञ०स्मृ०	-	याज्ञवल्क्य स्मृति
यो०वा०	-	योगवासिष्ठ
यो०सू०	-	योगसूत्र
यो०सू०भा०	-	योगसूत्रभाष्य
रामा०	-	रामायण
ल०वा०	-	लघुयोगवासिष्ठ
वि०चू०	-	विवेकचूड़ामणि
वि०पु०	-	विष्णुपुराण
वि०प्र०सं०	-	विवरणप्रमेयसंग्रह
वे०सि०मु०	-	वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावली
वै०श०	-	वैराग्यशतक
वै०सू०	-	वैशेषिकसूत्र
श०दि०	-	श ङ्करदिग्विजय
शा०द०	-	शाङ्करदर्शन
शा०भा०	-	शाङ्करभाष्य
श्वे०उ०	-	श्वेताश्वतरोपनिषद्
स०द०सं०	-	सर्वदर्शनसंग्रह
सां०का०	-	सांख्यकारिका
सि०ले०सं०	-	सिद्धान्तलेशसंग्रह
सू०सं०	-	सूतसंहिता
हि०सा०स०	-	हिन्दी साहित्य सम्मलेन

प्रथम अध्याय

भारतीय दर्शन में परमपुरुषार्थ

भारतीय दर्शन का उदय मुख्यतः आध्यात्मिक जिज्ञासा में हुआ । स्वभावतः चिन्तनशील मानव की अन्तर्मुखी जिज्ञासा ने दर्शनशास्त्र को जन्म दिया और इसीलिए मानव की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण वैचारिक उपलब्धि को दर्शन कहा जाता है ।

'दृश्यते अनेनेति दर्शनम्' इस व्युत्पत्ति से 'दर्शन' शब्द का अर्थ होता है 'जिसके द्वारा देखा जाय'। इस प्रकार 'दर्शन' उस शास्त्र का नाम है जिसके स्वाध्याय अथवा अध्ययन अध्यापन से लौकिक पुरुष को आत्मादि का ज्ञान प्राप्त होता है। इसी आत्मादि ज्ञान को अध्यात्मज्ञान[1] कहते हैं । 'दर्शन' शब्द से वे सभी पद्धतियां अपेक्षित हैं जिनके द्वारा परमार्थ का ज्ञान होता है और इसीलिए न्याय, सांख्य, वेदान्त आदि विचारधाराओं का 'दर्शन' नाम सार्थक है ।

सम्पूर्ण विश्व का तात्त्विक विचार दर्शन है । दर्शन अमरता की कुञ्जी है, वस्तुतः अमरता का अभियान है । दर्शन मानवता को अमरता का संदेश देता है । बृहदारण्यक उपनिषद् में कहा गया है – '(अमरता के लिए) आत्मदर्शन करना होगा, इसके तीन उपाय हैं, तीनों एकत्रीभूत हैं – श्रवण, मनन और निदिध्यासन।'[2]

मानव जीवन का चरम लक्ष्य ऐसे सत्य का साक्षात्कार है जो इस प्रपन्चात्मक संसार से परे है । आत्मा और ब्रह्म के तादात्म्य का विवेचन आस्तिक दर्शन सम्प्रदाय का प्रमुख प्रतिपाद्य है। भारतीय दृष्टि से जीवन और जगत् का कोई वास्तविक अस्तित्व नहीं है। भारतीय अध्यात्मदृष्टि इस स्थूल जगत् से परे एक अतीन्द्रिय अवाङ्मनसगोचर निर्विकल्प परमसत्य की प्राप्ति को मानव जीवन का परमलक्ष्य मानती है। यह लक्ष्य ही दूसरे शब्दों में मोक्ष है, जो एक ऐसी स्थिति का नाम है जिसमें जीवन, दुःख, दैन्य और क्लेश आदि आत्मा को पीड़ित नहीं करते । सभी भारतीय

---

१. आत्मनि इति अध्यात्मम्, अध्यात्मं ज्ञानम् इति अध्यात्मज्ञानम् अर्थात् आत्मविषयक ज्ञान या आत्म-सम्बन्धी विचार (मीमांसा) ।

२. "आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः।"– (बृह० उ०, २/४/५)

('अरी मैत्रेयी ! यह आत्मा ही दर्शन करने योग्य है, (पहले आचार्य से) श्रवण करने योग्य है, (पीछे) तर्क द्वारा मनन करने योग्य है, (इसके पश्चात्) निश्चय से निरन्तर ध्यान करने योग्य है ।')

दर्शनों में संसार के नाना कष्टों से मुक्ति पाने का आग्रह है । इसीलिए ये सभी दर्शन मोक्षशास्त्र कहलाते हैं ।

भारतीय दर्शन का लक्ष्य मोक्ष है । मुक्ति ही जीवन का चरम लक्ष्य है । इस सम्बन्ध में प्रो० मैक्समूलर[१] का विचार उल्लेखनीय है । नित्य-विभु आत्मतत्त्व का साक्षात्कार ही 'सम्यक् दर्शन' है । मनु[२] का कथन है कि सम्यक् दर्शन प्राप्त होने पर मानव को बन्धन नहीं रह जाता । बन्धन से मोक्ष पाने की जो शिक्षा भारतीय दर्शन में दी गयी है उसका तात्पर्य यह नहीं है कि हम संसार से पराङ्मुख होकर केवल परलोक चिन्ता में लगे रहें । वरन् इसका तात्पर्य यह है कि हम केवल इहलोक एवम् इहकाल को ही महत्त्व न दें । अपनी दृष्टि को मात्र इस लोक तक सीमित न रखकर दूरदर्शी बनें । इस प्रकार इहलौकिक एवं पारलौकिक - उभय दृष्टियों से मंगल प्रतिपादक शास्त्र ही दर्शन है ।[३]

रूपान्तर-लाभ, मानव जीवन का चरम आदर्श है, यही यथार्थमुक्ति है । रूपान्तर से तात्पर्य अज्ञान निवृत्ति एवं ज्ञान-स्वरूप में अवस्थिति से है । तब जन्म-मरण हट जाते हैं, अपनी पूर्ण सत्ता जाग जाती है और अद्वैतभाव का स्फुरण होता है । विविध दर्शनों में मोक्ष की कल्पना और उसकी प्राप्ति के साधन भिन्न हैं, फिर भी सब प्राणियों का उद्देश्य एक ही है अर्थात् पुनर्जन्म के चक्र से तथा संसार के दुःखों से मोक्ष ।

तत्त्व-दर्शन में गहरे भेद होने पर भी साधना के विषय में भारतीय दर्शनों का मत प्रायः एक है । इन्द्रियों और मन का निग्रह, सत्य, अहिंसा, मैत्री, करुणा का उपदेश सभी दर्शनों और आचार्यों ने किया है । प्राणायाम और यौगिक क्रियाओं के महत्त्व को सभी स्वीकार करते हैं । सभी पुनर्जन्म तथा कर्म विपाक में विश्वास रखते हैं । सभी का लक्ष्य मोक्ष है ।

सभी दर्शनों का एक ही लक्ष्य आत्मप्राप्ति है । दुःख की पूर्ण निवृत्ति, सर्वत्र

---

१. "भारत में दर्शन ज्ञान के लिए नहीं बल्कि जीवन के उस सर्वोच्च लक्ष्य के लिए था, जिसके लिए मनुष्य इस जीवन में चेष्टा कर सकता है ।"- "सिक्स सिस्टम्स आव् इण्डियन फिलॉसफी"

२. सम्यग्दर्शनसम्पन्नः कर्मभिर्न निबध्यते ।
दर्शनेन विहीनस्तु संसारं प्रतिपद्यते ।। - मनु०, ६/७४

३. "यदाभ्युदयिकं चैव नैःश्रेयसिकमेव च ।
सुखं साधयितुं मार्गं दर्शयेत् तद्धि दर्शनम् ।।" - सुभाषितम् ।

एकीभाव (समदृष्टि या सम्यग्दर्शन) एवं परमशान्ति की प्राप्ति ही दर्शन का वास्तविक उद्देश्य है । आत्मदर्शन ही परमधर्म है।[1] सभी दर्शन दुःखनाश के लिए ज्ञान-आत्मज्ञान का आश्रय लेते हैं । इस सम्बन्ध में श्रुतियों का स्पष्ट निर्देश है ।[2] यह चिर-परम्परा है । सभी दुःखों का क्षय ही अपवर्ग, मोक्ष या निःश्रेयस् है ।

मुक्ति अक्षय, शाश्वत एवम् ऐकान्तिक सुख व आनन्द की चरम अवस्था है । उसे प्राप्त कर सभी दुःख सर्वदा के लिए समाप्त हो जाते हैं । मुक्ति का अर्थ जीवन के कार्यकलापों से छुटकारा पाना नहीं है। मुक्ति का अर्थ है व्यष्टि और समष्टि का एकत्व-व्यष्टि का नाश और समष्टि का संगठित रूप । मोक्ष का अर्थ ही सर्वज्ञ में मिल जाना है । उस मानव का जीवन सार्थक है जिसने इसी जीवन में आध्यात्मिक शान्ति प्राप्त कर ली है । उसे महात्मा, सन्त, भक्त, ज्ञानी, जीवन्मुक्त, स्थितप्रज्ञ, मुक्त, निर्वाणप्राप्त, बुद्ध, अर्हत कहा जाता है और इस प्रकार मोक्ष, मानव जीवन की सर्वोत्तम उपलब्धि है। इस संदर्भ में डा० राधाकृष्णन्[3] का विचार उल्लेखनीय है ।

'मोक्ष अवसाने' इस चुरादिगणीय धातु से अधिकरण कारक में 'घञ्' प्रत्यय करने से 'मोक्ष' शब्द सिद्ध होता है । जिसमें दुःख समाप्त हो जाते हैं, उसको मोक्ष कहते हैं ।[4] अर्थात् दुःख से छूटकर आनन्द की प्राप्ति ही मोक्ष है । अतः आत्यन्तिक दुःखनाश एवम् आत्यन्तिक सुख दोनों का सम्मिलित नाम मोक्ष (मुक्ति, निर्वाण, महोदय) है ।

---

१. 'अयं तु परमोधर्मः यद् योगेनात्मदर्शनम् ।' - याज्ञ० स्मृ०, प्रथमाध्याय, ८वाँ श्लोक ।

२. (१) 'यं ज्ञात्वा मुच्यते बुधः' - (ब्र० उ०, ३)
(२) 'ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः' - (श्वे० उ०, ५/१३)
(३) 'विद्ययाऽमृतमश्नुते' - (ईश० उ०, ११)
(४) 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्'- (तै० उ०, २-१)
(५) 'तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति, नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' -(श्वे० उ०, ३/८)
(६) 'य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति' - (बृह० उ०, ४/४/१४)
(७) 'तरति शोकमात्मवित्' - (छा० उ०, ७/१/३)
(८) 'विद्यया विन्दतेऽमृतम्' - (के०उ०, १२/४)
(९) 'ज्ञात्वा तं मृत्युमत्येति' - (कै०उ०, ९)
(१०) "तं दुर्दर्शं गुढ़मनुप्रविष्टं गुहाहितं गहरेष्ठं पुराणम् ।
अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्त्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति ।।" -(कठ उ० १/२/१२)

३. 'मोक्ष या निर्वाण शाश्वत जीवन से पलायन नहीं है, वरन् जीवन की परिपूर्ण सम्भावनाओं की सिद्धि, व्यक्तित्व की पूर्णता है ।' -("भारतीय संस्कृति-कुछ विचार", पृ० ४२ से उद्धृत)

४. 'मोक्षयन्ति समांप्नुवन्ति दुःखानि यस्मिन्निति मोक्षः' ।

न्याय[1] में प्रमाणप्रमेयादि षोडश पदार्थों का ज्ञान ही निःश्रेयस्[2] का कारण है, क्योंकि इनका यथार्थज्ञान होने से ही मोक्ष प्राप्त होता है ।

वैशेषिक दर्शन में कहा गया है कि धर्म से सांसारिक अभ्युदय (भोग) एवं पारमार्थिक निःश्रेयस् (मोक्ष) दोनों मिलते हैं । इस धर्मविशेष का यथार्थज्ञान हो जाने पर तत्त्वज्ञान हो जाता है और तब सर्वदुःखविनिर्मुक्ति मिल जाती है ।[3]

सांख्य दर्शन में दुःखाभाव रूप मोक्ष की कल्पना है । त्रिविधतापों से मुक्ति हेतु 'व्यक्ताव्यक्तज्ञ' विज्ञान उपाय है ।[4] विवेकज्ञान से पुरुष की प्रकृति से आसक्ति समाप्त हो जाती है, फिर पुरुष केवली (मुक्त) हो जाता है । मोक्ष प्राप्त हो जाने पर दुःख का तिरोभाव हो जाता है ।

योग दर्शन के अनुसार, आत्मा एवं चित्त के सम्बन्ध का पृथक् हो जाना ही मोक्ष है ।[5] पुरुष एवं प्रकृति का पार्थक्यज्ञान कैवल्य की अवस्था है । उस अवस्था में पुरुष अपने निजस्वरूप में (शुद्ध चिन्मात्र स्थिति में) स्थित हो जाता है।[6]

मीमांसा मत में कर्मफल से छुटकारा पाये बिना मुक्ति नहीं हो सकती । श्री सुरेश्वराचार्य जी ने मीमांसा की मोक्षप्रक्रिया को संक्षेप में इस प्रकार कहा है – 'काम्य और निषिद्ध कर्मों का त्याग कर देने से और नित्य नैमित्तिक कर्मों का अनुष्ठान करते रहने से मुक्ति लाभ होता है।'[7] मुक्ति की अवस्था में आत्मा सुख दुःख से परे, अपने यथार्थस्वरूप में रहता है। सत्ता, द्रव्यत्व एवं ज्ञानशक्ति को शास्त्रदीपिका में आत्मा का स्वाभाविक स्वरूप माना गया है।[8]

वेदान्त में 'आनन्दस्वरूप ब्रह्म की प्राप्ति एवं सभी अनर्थों का समूलोन्मूलन'

---

१. द्रष्टव्य – न्या०सू०, १/१/१ ।

२. 'निःशेषेण श्रेयः इति निःश्रेयसम्' अर्थात् अशेषरूपेण (पूर्णरूप से) कल्याण । जिसकी प्राप्ति के बाद कोई कल्याण न बचे अर्थात् परमकल्याण । यह परमकल्याण ही मोक्ष – परमानन्द की स्थिति है । न्याय के अनुसार, यह आनन्द की स्थिति नहीं है बल्कि दुःखाभाव की स्थिति (मुक्ति) है । इसी दुःखाभाव का लाक्षणिक अर्थ आनन्द या सुख है । न्याय में अभावरूप मोक्ष की कल्पना है ।

३. द्रष्टव्य – वै०सू०, १/१/२, ४

४. द्रष्टव्य-सां०का०, १,२

५. द्रष्टव्य – यो०सू०, ३/५५ ।

६. द्रष्टव्य – यो०सू०, १/३ ।

७. द्रष्टव्य – (नै०, १/१०, ११)

८. द्रष्टव्य – शास्त्र-दीपिका (पृ० १२५-३१)

मोक्ष का स्वरूप माना गया है, जैसा कि श्रुति निर्देश है।[1] वेदान्त दर्शन ब्रह्मविद्या, आत्मविद्या, पराविद्या या सच्चा-स्वरूपज्ञान ही है। सर्वदुःखमुक्ति एवं परमानन्द और शान्ति की पराकाष्ठा की प्राप्ति इसका प्रयोजन है। अद्वैत दर्शन के अनुसार जीव और ब्रह्म एक ही है।[2] जीव जब साधना द्वारा माया को हटाकर ब्रह्म में लीन हो जाता है तब यही स्थिति मोक्ष है। ब्रह्मसाक्षात्कार हो जाने पर अज्ञान जन्य बन्धन की निवृत्ति ही मोक्ष है।[3] यह अमरत्व या अमृतत्त्व की अवस्था है। यही द्रष्टा का स्वरूपबोध एवं मानवजीवन का परमपुरुषार्थ है। इसी के विषय में श्रुति कहती है- 'यदि इस मनुष्यजीवन में आत्मा के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान हो गया, तो मानवजीवन सफल है, अन्यथा महान् हानि हुई।'[4]

मुक्ति अवस्था सभी वेदान्तों में एक रूप ही कही गयी है। ब्रह्म ही मुक्ति की अवस्था है, और ब्रह्म में एकाकार योग न हो, ऐसा नहीं है।[5] मोक्ष में ब्रह्म से जीव की एकाकारता होती है।

इस प्रकार, अतिशय आनन्दस्वभाव आत्मा का अविद्या द्वारा तिरोधान ही बन्धन है और विद्या द्वारा उसकी निवृत्ति ही मोक्ष है। माधवाचार्य ने भी सर्वदर्शनसंग्रह में यही विचार प्रतिपादित किया है।[6]

माध्व दर्शन (द्वैतवादी) के अनुसार, नारायण के प्रसाद के बिना मोक्ष सम्भव नहीं है।[7] मुक्ति परमात्मा या विष्णु का साक्षात् दर्शन है। भगवान् के प्रति अगाध प्रेम-परम भक्ति होने पर, ईश्वर के परमानुग्रह से जीव संसार से छुटकारा पाता है।

---

१. 'ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति' -(मु०उ० ३/२/६)
'तरति शोकात्मवित्' (छा०उ०, ७.१.३) (पृष्ठ ३ पर उद्धृत उपनिषद् वाक्य भी द्रष्टव्य हैं)

२. 'श्लोकार्धेन प्रवक्ष्यामि यदुक्तं ग्रन्थकोटिभिः।
ब्रह्मसत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः ॥'
-(जगद्गुरु शङ्कराचार्य, ब्रह्मज्ञानावलीमाला, २०)

३. भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे ॥ - (मु० उ०, २/२/८)

४. इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः। - (के०उ०, २/५)

५. द्रष्टव्य - ब्र०सू०शा०भा०, ३/४/५२।

६. "ततश्च तत्त्वमस्यादिविद्यया तदविद्यानिवृत्तौ निरतिशयानन्दात्मलाभरूपपरमपुरुषार्थः सेत्स्यति।"
(स०द०सं०-शा०द०, पृ०८८५) (प्रकाशक चौ० वि० वाराणसी, १९७८ ई०)

७. 'मोक्षश्च विष्णुप्रसादेन विना न लभ्यते।' - विष्णतत्त्वनिर्णय।

८. "भक्तिप्रपत्तिभ्यां प्रसन्नः ईश्वरः एव मोक्षं ददाति।" - (यतीन्द्र मतदीपिका -पृ० ३८)

विशिष्टाद्वैत के अनुसार साधक की भक्ति प्रपत्ति से संतुष्ट होकर ईश्वर ही उसके मार्ग से बाधाओं को हटा देते हैं और उसे मोक्ष देते हैं ।[८] भक्ति और प्रपत्ति को मोक्ष का साक्षात् साधन माना गया है ।[१] मुक्ति की अवस्था में जीव का ब्रह्म से सायुज्य-लाभ होता है ।[२] समस्त प्रकार के अज्ञान और बन्धनों से मुक्त हो जाने पर मुक्तात्मा पूर्ण ज्ञान और भक्ति के साथ, ब्रह्म-चिन्तन का असीम आनन्द अनुभव करता है ।[३]

शैव सम्प्रदाय ने मोक्ष का अर्थ 'जीव को शिवत्व' की प्राप्ति माना है, जो अद्वैत दर्शन से भिन्न नहीं है । जीव सद्गुरु से दीक्षा प्राप्त करके शिवभावापन्न होते हैं और सब विषयों को तत्त्वतः जानकर जीवन्मुक्ति लाभ करते हैं । इस अवस्था में देहादि में आत्माभिमान नहीं रहता तथा विकल्पहीन स्वात्मबोध खुल जाता है ।[४]

शाक्तों के अनुसार भगवान् की भगवत्ता की मूलभूत आधार-शक्ति के आनन्दमय अंक की प्राप्ति ही मोक्ष है । शक्ति की उपासना के बिना मुक्ति असम्भव है ।[५] अद्वैतवाद के अनुसार जिस प्रकार मुक्त जीव स्वयं ब्रह्मरूप हो जाता है उसी प्रकार शक्त्यद्वैतवाद के अनुसार साधक स्वयं शक्तिरूप हो जाता है ।[६]

मानव ज्ञानप्राप्ति के लिए - आनन्द की खोज में दर्शन अध्ययन करता है । वह अपूर्णता से पूर्णता की ओर जाने के लिए ऐसा करता है । मोक्ष कामना उसे प्रेरित करती है । इसी भावना से प्रेरित होकर मानवचिन्तन दार्शनिक हो जाता है । दर्शन की दो मौलिक आवश्यकताएं हैं । एक अन्य तीसरी बात भी दार्शनिक होने के लिए आवश्यक है -

१. उद्दाम आकांक्षा

२. असीम धैर्य ३. वैराग्य[७]

---

१. "भक्तिप्रपत्त्योरेव मोक्षसाधनत्वस्वीकारात् ।" - (यतीन्द्र मतदीपिका -पृ० ४०)

२. "ज्ञानैकाकारतया ब्रह्मप्रकारता उच्यते ।" - श्रीभाष्य (पृ० ७१)

३. द्रष्टव्य - श्रीभाष्य, अ० ५, पाद ४ ।

४. यस्मिन्काले तु गुरुणा निर्विकल्पं प्रकाशितम् ।
तदैव किल मुक्तोऽसौ यन्त्रं तिष्ठति केवलम् । - (रत्नमाला आगम से उद्धृत)

५. 'शक्तिं विना न वै मुक्तिः शक्तिर्मोक्षप्रदामता ।' - (शक्तिसंगम तन्त्र ४/८०)

६. 'साधको ब्रह्मरूपीस्यात् ब्रह्मज्ञानप्रसादतः ।' - (रुद्रयामल, २५वां पटल, ३३वां श्लोक, पृ० २५५ से उद्धृत । प्रकाशक - योगतन्त्र विभाग, सम्पूर्णानन्द संस्कृत वि०वि० वाराणसी, सन् १९८० ई०)

७. रज्यतेऽनेनेति रागः, विगतः रागः विरागः, तस्य भावः वैराग्यम् । अर्थात् आसक्ति के न होने का भाव ही वैराग्य है ।

दार्शनिक में ज्ञानप्राप्ति की उत्कट इच्छा होनी चाहिए । उसमें अतुलित धैर्यशक्ति होनी चाहिए, साथ ही उसमें त्यागभाव होना चाहिए । अनासक्ति के साथ कर्म करना ही वैराग्य है ।[1] दार्शनिक को विरक्त होना चाहिए । इसका उदाहरण हैं- राजा जनक । वह अपने युग के सर्वश्रेष्ठ विद्वान् थे, उन्हें विदेहराज कहा जाता था।

मुक्ति का आदर्श विभिन्न प्रकार से माना गया है । भारत के अधिकांश दर्शन 'जीवन्मुक्ति' के आदर्श को मानते हैं । मोक्ष केवल वाद-विवाद की वस्तु नहीं है । अस्तु ऐसा न हो कि साधक मृत्यु के बाद कुछ भी न प्राप्त कर सके और अपनी साधना को व्यर्थ समझे । साधना फलवती तब है जब उसका फल प्रत्यक्ष हो, इसी जन्म में मिल सके । यदि दर्शनों के अध्ययन और परमतत्त्व के ज्ञान का इस लोक में कुछ भी प्रभाव नहीं होता, तो परलोक में ही होगा, इसकी क्या निश्चितता है ? इसी परिप्रेक्ष्य में मुक्ति के दो आदर्श भारतीय दर्शन में परिलक्षित होते हैं -

१. जीवन्मुक्ति [2]

२. विदेहमुक्ति [3]

जीवन्मुक्ति का तात्पर्य है - 'जीवित अवस्था में ही ज्ञान प्राप्त होना' । सांख्य-योग, न्याय, वेदान्त (अद्वैत वेदान्त), बौद्ध, जैन एवं श्रीमद्भगवद्गीता में जीवन्मुक्ति का समर्थन किया गया है । जिस मत में जिस अवस्था को मुक्ति माना जाता है,-उस मत में उस अवस्था का जीवद्दशा में प्रकाश होना ही जीवन्मुक्ति समझनी चाहिए । जीवन्मुक्ति मानवजीवन की परिपूर्ण सार्थकता है । मोक्ष के बाद भी शरीर रह सकता है क्योंकि यह प्रारब्ध कर्मों का फल है । परन्तु मुक्तात्मा अज्ञाननिवृत्ति हो जाने से शरीर एवं तत्सम्बन्धित सुख-दुःख से निर्लिप्ति रहता है ।[4] ज्ञान होने पर जीवितावस्था में ही आत्मवित् को अशरीरत्व प्राप्त होता है ।[5]

---

१. द्रष्टव्य, भ०गी० ५/११ - 'योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वाऽऽत्मशुद्धये ।'

२. जीवतः जनस्य (साधकस्य, योगिनः) मुक्तिः जीवन्मुक्तिः ।
अर्थात् जीवितावस्था में मुक्ति ।

३. विगतः देहः विदेहः, विदेहस्य मुक्तिः विदेहमुक्तिः ।
अर्थात् मरणोत्तरावस्था में मुक्ति ।

४. 'अशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः ।' - (छा०उ०, ८/१२/१)
(अर्थात् देहादि अभिमान रहित आत्मा को मिथ्या देहसम्बन्धी सुख-दुःख स्पर्श नहीं करते ।)

५. "सिद्धं जीवतोऽपि विदुषोऽशरीरत्वम् ।" - ब्र०सू०शा०भा०, १/१/४

श्रुति का भी स्पष्ट संकेत है कि हृदयाश्रित कामनाओं के विनष्ट हो जाने पर मर्त्य (मरणधर्मा) अमर हो जाता है और इस शरीर से ही ब्रह्मभाव को प्राप्त हो जाता है ।[1] प्रो० डायसन के अनुसार, जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्ति के भेद का अध्ययन उपनिषद्-दर्शन के अन्तर्गत नहीं उपलब्ध होता,[2] परन्तु यह विचार तर्कसंगत नहीं है। जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्ति की प्रबल पृष्ठभूमि हमें उपनिषदों में उपलब्ध होती है । उपनिषद् दर्शन के अनुसार ज्ञानी इसी जगत् में ब्रह्मज्ञान अर्थात् मुक्ति-लाभ कर लेता है।[3] ब्रह्मज्ञान प्राप्त कर लेने पर ज्ञानी को जीवित रहते हुए भी पापकर्म नहीं लगता।[4] गीता में जिसे स्थितप्रज्ञ कहा गया है उसे हम इस जीवन्मुक्त की कोटि में रख सकते है । गीता के अनुसार मुख्यभक्ति, जीवन्मुक्ति का ही नामान्तर है ।[5]जीवन्मुक्तिविवेक में विद्यारण्यस्वामी भी यही बात कहते हैं ।[6]

जीवन्मुक्त जगत्-भर को ही आत्मक्रीडा अर्थात् आत्मशक्ति के विलास-रूप में देखते हैं, उनकी योगावस्था कभी भग्न नहीं होती । भगवान् श्रीकृष्ण, राजर्षि जनक, ब्रह्मर्षि वशिष्ठ, ऋषि याज्ञवल्क्य, महात्मा जड़ भरत, ज्ञानी श्री शुकदेव, जगद्गुरु श्री शंकराचार्य, विद्यारण्य महामुनि, श्री सन्त ज्ञानेश्वर जी एवं स्वामी विवेकानन्द आदि को हम जीवन्मुक्ति की कोटि में रख सकते हैं ।

अतः यह जीवन्मुक्ति की अवस्था कोई मनमोदक नहीं है जो कल्पना के संसार में मृत्यु के पश्चात् मिलती है । इसकी प्राप्ति अन्य कार्यों की सफलता की भाँति साधक की उत्कट श्रद्धा एवं सतत् साधनपटुता पर अपेक्षित है । जितनी तीव्र उत्कण्ठा और दृढ़निष्ठापूर्ण साधना होगी, उतना ही शीघ्र यह परम दुर्लभ अवस्था प्राप्त होगी, नहीं तो दो, तीन, चार अथवा अनेक जन्मों के पश्चात् ही यह परम काम्य जीवन्मुक्ति प्राप्त हो सकती है ।

भोग और मोक्ष की साम्यावस्था ही जीवन्मुक्ति है । 'भोक्ता' जब भोग्य के

---

१. द्रष्टव्य - कठ०उ०, २/३/१४-१५ ।

२. डायसन, फिलॉसफी ऑव् उपनिषद्स, पृ० ३५६

३. 'न तस्य प्राणाः उत्क्रामन्ति ब्रह्मैव सन्ब्रह्माप्येति ।' -बृह०उ०, ४/४/६
एवम् 'अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समनुश्ते ।' -बृह०उ०, ४/४/७

४. 'यथा पुष्करपलाश आपो न श्लिष्यन्त एवमेवं विदि पापं कर्म न श्लिष्यत ।' -छा०उ०, ४/१४/३

५. उक्त तथ्य 'अद्वेष्टा सर्वभूतानाम्' (भ०गी० १२/१३) से 'यो मद्भक्तः स मे प्रियः' (भ०गी० १२/१४) पर्यन्त के वाक्यों से विदित होता है ।

६. 'जीवन्मुक्तः स्थितप्रज्ञो विष्णुभक्तश्च कथ्यते ।' (प्रथमे प्रमाणप्रकरणे)

साथ एकीभूत हो जाता है, तब उस एकीभाव को 'भोग' कहते हैं, 'मोक्ष' भी कहते हैं।[1] इस अवस्था की-अपनी विश्वात्मकता की- 'सर्वो ममायं विभवः' इस प्रकार अनुभूति होती है । यह विश्वात्मकता आत्मा का स्वभाव है, आहार्य या आगन्तुक धर्म नहीं है ।

जीवन्मुक्ति के अनन्तर विदेहमुक्ति होती है। जब जीवन्मुक्त प्राणी के प्रारब्ध कर्मों का भोग समाप्त हो जाता है, तो उसका देह नष्ट हो जाता है और वह विदेहकैवल्य की उपलब्धि करता है ।[2] सांख्यकारिका में भी विदेहमुक्ति का समर्थन किया गया है ।[3] लब्धविवेकख्याति योगी के प्रारब्ध भोग के अनन्तर शरीरपात होने पर विदेहमुक्ति होती है । द्रष्टा का अपने स्वरूप (शुद्ध चिन्मात्र) में अवस्थान हो जाता है ।[4] विदेहमुक्ति में इस देह का अस्तित्त्व नहीं रह जाता । विदेहमुक्त प्राणी इस शरीर से समुत्थानकर परमज्योति को प्राप्त कर अपने स्वरूप में स्थिर हो जाता है ।[5] यही उसका परमलाभ है, जिसे प्राप्त कर वह पूर्णरूपेण कृतकृत्य हो जाता है । विदेहमुक्ति हो जाने पर जन्ममरणरूप संसारचक्र की आत्यन्तिक निवृत्ति हो जाती है, अतः मुक्त को दूसरा शरीर नहीं धारण करना पड़ता ।

जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्ति को वस्तुतः दो प्रकार की मुक्ति न समझना चाहिए। मुक्ति तो वस्तुतः एक ही है । जब उसका अनुभव जीवित रहते हुए होता है तब वह 'जीवन्मुक्ति' कही जाती है और शरीरपात होने पर अनुभूत होने पर ही 'विदेहमुक्ति' कही जाती है । पारमार्थिक दृष्टि से तो बन्धन और मोक्ष दोनों का ही निषेध है ।[6] अस्तु शाश्वत सत्य का अनुभव ही मोक्ष है । जो सर्वदा से है (बन्धन की अवस्था में भी जो सत्य अज्ञात रूप से विद्यमान रहता है) उसका साक्षात् अनुभव ही मुक्ति है ।

---

१. 'तस्या भोक्त्र्याः स्वतन्त्राया भोग्यैकीकार एषयः ।
स एव भोगः सा मुक्तिः स एव परमं पदम् ।।' -(प्रबोधपंचदशिका से उद्धृत)

२. 'तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ संपत्स्ये ।' -(छा०उ०, ६/१४/२)
(उसके लिए (जीवन्मुक्त को) मोक्ष (विदेहमुक्ति) होने में उतना ही विलम्ब है जब तक यह देहबन्धन से मुक्त नहीं होता । उसके पश्चात् तो वह सत्सम्पन्न, ब्रह्म को प्राप्त हो जाता है ।)

३. द्रष्टव्य, सां० का०, ६८ ।

४. द्रष्टव्य, यो०सू०, १/३।

५. 'परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते ।' -(छा०उ०, ८/१२/३)

६. द्रष्टव्य, मा०उ०, २/३२।

द्वितीय अध्याय

अद्वैत परम्परा और विद्यारण्य

वेदान्त दर्शन भारतीय अध्यात्मदर्शन का मुकुटमणि है । यह भारतीय दर्शन का सबसे चमकीला रत्न है । इसमें मानव-विचार अपने उच्चतम शिखर पर पहुँच गये हैं और इसीलिए वेदान्त को विश्वस्वीकृत सर्वोच्च ज्ञान माना जाता है ।

उपनिषदें इस वेदान्त दर्शन की मूलाधार हैं । वेदान्त के तीन मौलिक प्रस्थान हैं :-

१. उपनिषद्

२. ब्रह्मसूत्र

३. श्रीमद्भगवद्गीता

वेद का सबसे अन्तिम भाग होने से एवं वेद का अन्त (ज्ञान की चरमसीमा) होने से उपनिषदों को ही वेदान्त[1] कहा गया है । वेदान्त में आत्मज्ञान का उपदेश या आत्मतत्त्व का निरूपण हुआ है । यह ज्ञान-आत्मज्ञान, ज्ञान की पराकाष्ठा है ।[2] आत्मस्वरूप के विवेचन के साथ ही साथ अंग रूप से संसार स्वरूप का विवेचन, माया, सृष्टि और प्रकृति का भी विवेचन हुआ है । परमात्मा का साक्षात्कार कराने वाली यह ब्रह्मविद्या सभी विद्याओं में श्रेष्ठ है ।[3] सारी विद्याओं का आधार, उत्कृष्टतम स्वरूप यह ब्रह्मविद्या ही है ।

द्वितीय प्रस्थान महर्षि बादरायण-व्यास प्रणीत 'ब्रह्मसूत्र' है । समस्त उपनिषदों का सूत्रों द्वारा ब्रह्म में तात्पर्य से समन्वय होने से इस ग्रन्थ का नाम ब्रह्मसूत्र है ।[4] इसी को वेदान्त दर्शन भी कहते हैं । वेदान्त शास्त्र का यह सर्वप्रथम ग्रन्थ भारतीय संस्कृति की अन्यतम भित्ति है । ब्रह्मविचार ही ब्रह्मसूत्र का विषय है । इसमें आपाततः विरोधी उपनिषद् वाक्यों का समन्वय एकमात्र अद्वितीय ब्रह्म में दिखलाया गया है, तथा अन्य तार्किक युक्तियों का खण्डन किया गया हे ।

---

१. वेदानाम् अन्तः इति वेदान्तः ।
एवं
वेदस्य अन्तः इति वेदान्तः ।

२. 'सा काष्ठा सा परा गतिः ।' -कठ०उ०, १/३/११

३. 'अध्यात्मविद्या विद्यानां वादः प्रवदतामहम् ।' - भ०गी० १०/३२

४. 'वेदान्तवाक्यकुसुमग्रथनार्थत्वात्सूत्राणाम् ।' -ब्र०सू०शा०भा०, १/१/२

श्रीमद्भगवद्गीता, वेदान्त दर्शन का तृतीय महत्त्वपूर्ण प्रस्थान है । समस्त शास्त्रों का मन्थन कर अमृतमयी गीता का आविर्भाव हुआ है । इसका अमूल्य उपदेश सार्वभौम है । सर्वसिद्धान्तों के अति सुन्दर और युक्तियुक्त समन्वय की दृष्टि से यह अन्यतम ग्रन्थ है ।

यह प्रस्थानत्रयी परवर्तीकाल में वेदान्त के विभिन्न सम्प्रदायों के लिए आधारस्तम्भ अथवा मेरुदण्ड के रूप में प्रतिष्ठित हुई । इस पर भाष्य लिखकर महात्माओं और धर्मप्रवर्तकों ने अपने सिद्धान्तों को प्रतिस्थापित किया । प्रस्थानत्रयी पर भाष्य लिखने वाले आचार्यों में शङ्कर, भास्कर, रामानुज, माध्व, निम्बार्क, श्रीकण्ठ, श्रीपति, वल्लभ, विज्ञानभिक्षु एवं बलदेव आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इन आचार्यों ने अपनी-अपनी विचार शैली एवं दृष्टि के अनुसार वेदान्त सम्प्रदाय के विविध सिद्धान्तों का प्रवर्तन किया । इन सभी आचार्यों के प्रयास श्लाघ्य थे । इनमें भी पाँच वेदान्ताचार्यों के पाँच वादों का विशिष्ट विकास हुआ ।[1]

इन सभी भाष्यों में भगवान् आद्य शङ्कराचार्य विरचित ब्रह्मसूत्र 'शारीरकभाष्य' की कोई तुलना नहीं कर सकता । विद्वत्तापूर्ण इस भाष्य रचना से प्राच्य-प्रतीच्य सभी विद्वान् समान रूप से प्रभावित हैं और मुक्तकण्ठ से प्रशंसा करते हैं ।[2]

आचार्य शङ्कर को ही भारतीय दर्शन में अद्वैतवाद का जनक माना जाता है। यद्यपि वेदान्त दर्शन के अद्वैतवाद का सिद्धान्त भारतीय चिन्तन-परम्परा में अति

---

१. <u>आचार्य</u> — <u>मत</u>

	आचार्य	मत
१.	शङ्कर	अद्वैत
२.	रामानुज	विशिष्टाद्वैत
३.	मध्व	द्वैत
४.	निम्बार्क	द्वैताद्वैत
५.	वल्लभ	शुद्धाद्वैत

२. द्वादशदर्शनकाननपञ्चानन, महाविद्वान् आचार्य वाचस्पति मिश्र ने अपनी 'भामती' नामक विद्वज्जन प्रशंसनीय सुप्रसिद्ध टीका में शाङ्करभाष्य की भूरि-भूरि प्रशंसा की है -

'नत्वा विशुद्धविज्ञानं शङ्करं करुणाकरम्।

भाष्यं प्रसन्नगम्भीरं तत्प्रणीतं विभज्यते।।' - (भामती, उपोद्घात, श्लोक ६)

पाश्चात्य विद्वान् सर सर चार्ल्स इलियट का मत भी उल्लेखनीय है-

'शङ्कर का दर्शन संगति, पूर्णता तथा गाम्भीर्य में भारतीय दर्शन में सबसे प्रथम स्थान रखता है।'

-('हिन्दुइज्म एण्ड बुद्धिज्म' खण्ड २, पृष्ठ २०८ से उद्धृत)

प्राचीन है, तथापि इसे सैद्धान्तिक दृष्टि से सुव्यवस्थित रूप आचार्य शंकर ने प्रदान किया और इसीलिए उन्हें अद्वैतवाद का उद्धारक भी कहा जाता है । अद्वैतवाद की स्थापना आचार्य गौडपाद द्वारा की गई थी, जिसको प्रामाणिक आधार आचार्य शङ्कर ने ब्रह्मसूत्र का अद्वैतपरक शारीरकभाष्य लिखकर प्रदान किया। भगवान् गौडपादाचार्यकृत माण्डूक्यकारिकाओं को अद्वैत सिद्धान्त का प्रथम निबन्ध कहा जा सकता है। उसी ग्रन्थ रत्न के आधार पर भगवान् शङ्कराचार्य ने अद्वैतमन्दिर की स्थापना की थी। अस्तु अनादि अद्वैतसिद्धान्त को साम्प्रदायिक मतवाद का रूप प्रदान करने का प्रधान श्रेय आचार्यप्रवर भगवान् शङ्कर को है। श्री शङ्कर महान् विद्वान्, तार्किक, दार्शनिक और प्रचारक थे। दार्शनिक संसार में उनकी धाक जमी है। आधुनिक संसार के इतिहास में उनके जैसा ज्ञानी और दार्शनिक कोई अन्य नहीं मिलता।

अद्वैत वेदान्त दर्शन को भारतीय विचारधारा की चरम परिणति के रूप में देखा जा सकता है । यह भारतवर्ष का सबसे अधिक मान्य दर्शन है । इसे सर्वदर्शनशिरोमणि कहा गया है।[1] यह भारतीय ज्ञानकाण्ड के चरमोत्कर्ष का सूचक है । अद्वैतवेदान्तदर्शन ही अतीव दर्शन करने योग्य - प्रशस्ततम दर्शन है।[2] यह भारतीय अध्यात्मशास्त्र में शीर्षस्थानीय है । सम्पूर्ण दर्शन जगत् में शाङ्कर अद्वैतवाद का सर्वाधिक महत्त्व है। इसीलिए कभी-कभी अद्वैत एवं वेदान्त को एक दूसरे का पर्याय समझा जाता है। यहाँ तक कि साधारणतः वेदान्त दर्शन से अद्वैत दर्शन का ही आशय ग्रहण किया जाता है।[3] अद्वैतवेदान्त की विशेष मान्यता का कारण उसकी दार्शनिक प्रौढ़ता है।[4] शङ्कर का अद्वैतवाद, एक महान् कल्पनात्मक साहस और तार्किक सूक्ष्मता का दर्शन है ।[5]

बादरायण का ब्रह्मसूत्र -

अद्वैतवाद का प्रमुख आधार महर्षि बादरायण का ब्रह्मसूत्र है । पराशर के पुत्र और शुकदेव के पिता कृष्णद्वैपायन व्यास को बादरायण से अभिन्न मानकर भारतीय परम्परा के अनुसार ब्रह्मसूत्र का कर्ता माना जाता है ।[6] परन्तु आजकल पाश्चात्य तथा

---

१. 'सकलदर्शन शिरोऽलंकाररत्नं श्रीमच्छांकरदर्शनम् ।' - (स०द०सं०-शा०द०, पृ० ८६१)

२. 'वेदान्तदर्शनं दर्शनेषु सर्वेषु दर्शनीयतमं दर्शनम् ।' -(स्वामी ब्रह्मानन्दः, न्यायरत्नावल्याम्)

३. डॉ० एस०एन० दास गुप्तः भा०द०, भाग १, पृ० ४२६

४. डॉ० नन्दकिशोर देवराजः भा०द०, पृ० ५२८

५. डॉ० राधाकृष्णन् भा०द०, भाग २, पृ० ४३८

६. डॉ० गोपीनाथ कविराज के विचार से पराशरपुत्र व्यास द्वारा निर्मित एक भिक्षुसूत्र अतिप्राचीन समय में भी प्रसिद्ध था । भिक्षुसूत्र को संन्यासियों के पठन-योग्य, उपनिषदों के आधार पर लिखा गया कोई ग्रन्थ मानने पर वह भिक्षसूत्र, वेदान्तसूत्र या ब्रह्मसूत्र से भिन्न नहीं होगा । - (भा०सं०और सा०, प्रथम खण्ड, पृ० ७६-७७)

भारतीय अनेक अन्वेषणकर्ता यह मानने के लिए तैयार नहीं हैं ।[1] पाराशर्यव्यास और बादरायण की एकता पूर्णतः असत्य और इतिहास विरुद्ध है ।[2] बदरमुनि के पुत्र थे बादरि और बादरि के पुत्र थे बादरायण । सम्भवतः पराशरगोत्रीय होने से व्यास,[3] पाराशर्य और बादरायण की एकता का भ्रम हुआ है, जो कि अब समाप्त हो जाना चाहिए।

ब्रह्मसूत्र की अत्यन्त प्राचीनता सिद्ध होती है।[4] ब्रह्मसूत्र की रचना सम्भवतः ईसा पूर्व द्वितीय शताब्दी में हुई होगी।[5] वेदान्त दर्शन का ब्रह्मसूत्र मूलभूत ग्रन्थ है। इसमें अतीव संक्षिप्तरूप से परब्रह्म के स्वरूप, उसकी प्राप्ति के साधन उसकी उपासना एवं विज्ञान के फल का साङ्गोपाङ्ग वर्णन किया गया है ।

वेदान्त तथा प्राचीन आर्ष सम्प्रदाय -

ब्रह्मसूत्र के अध्ययन से स्पष्ट है कि बादरायण मुनि से भी पूर्वकाल में अनेक आचार्यों ने वेदान्ततत्त्व की मीमांसा की थी । ये लोग प्राचीन आर्षवेदान्त के आचार्य थे । इन महर्षियों की दार्शनिक कृतियाँ अनुपलब्ध हैं, फिर भी यत्र-तत्र उपलब्ध संकेत उनके बोधक हैं । इनके मतों का यत्किंचित सम्बन्ध वेदान्त दर्शन के सिद्धान्तों के साथ प्रतीत होता है ।

इन महर्षियों में बादरि, आश्मरथ्य, आत्रेय, काशकृत्स्न, औडुलौमि, कार्ष्णाजिनि, जैमिनि और काश्यप के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं । ब्रह्मसूत्र के विविध सूत्रों में इन आचार्यों का उल्लेख हुआ है ।

इसके अतिरिक्त और भी अनेक ऋषियों का वर्णन मिलता है, जिन्होंने विविध दार्शनिक ज्ञान का प्रचार किया । असित, देवल, गर्ग, जैगीषव्य, पराशर, भृगु इत्यादि ऋषियों के नाम इस प्रसंग में विशेष उल्लेखनीय हैं, किन्तु उनकी आज कोई

---

१. डॉ० सुरेशचन्द्र श्रीवास्तव्य ने अनेक तथ्यों को प्रस्तुत कर यह निष्कर्ष प्रस्तुत किया है कि ब्रह्मसूत्रों के रचयिता 'बादरायण व्यास', महाभारतकार 'कृष्णद्वैपायनव्यास' से सर्वथा भिन्न हैं और गौतमबुद्ध के बहुत बाद हुए हैं । - (द्रष्टव्य, योगसूत्रभाष्यसिद्धि, भूमिका, पृ० २५-२६)

२. डा० कुँवरलालव्यास शिष्यः भा०द०, पृ० १३६

३. पराशरपुत्र वेदव्यास एवं बादरायण दोनों से भिन्न किसी अन्य व्यास की भी कल्पना की गयी है । इन दोनों से भिन्न यह अन्य व्यास ही सम्भवतः योगभाष्य के रचनाकार रहे होंगे ।

४. "पाराशर्यशिलालिभ्यां भिक्षुनटसूत्रयोः" - (अष्टाध्यायी, ४/३/११०)
एवं
"ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः" - (भ०गी०, १३/४)

५. डा० एस० एन० दास गुप्त : भा०द०, भाग १, पृ० ४२३

भी ऐसी उल्लेखनीय कृति उपलब्ध नहीं है जिसके आधार पर उनके सिद्धान्तों का ज्ञान हो सके ।

प्राचीन वेदान्त मत –

यह सम्भव है कि ब्रह्मसूत्र और आचार्य शङ्कर के अन्तराल में भी कई भाष्य रचे गये हों, पर वे आज अप्राप्य हैं । इनके नाम परवर्ती टीकाओं में उपलब्ध होते हैं । आचार्य भर्तृप्रपंच, भर्तृहरि (वैयाकरण), बोधायन, उपवर्ष आदि पर शङ्कर की बड़ी श्रद्धा थी । भगवान् उपवर्ष, भारुचि, टंक, गुहदेव, सुन्दरपाण्ड्य, ब्रह्मदत्त, कपर्दी एवं द्रमिलाचार्य आदि वेदान्ताचार्यों की कारिकाओं का शाङ्करभाष्य में उल्लेख मिलता है।

भर्तृप्रपंच का सिद्धान्त, ज्ञान-कर्म समुच्चयवाद है । बृहदारण्यक उपनिषद्भाष्य[1] में एवं शारीरकभाष्य[2] में आचार्य शङ्कर ने भर्तृप्रपंच के द्वैताद्वैत (भेदाभेद) का उल्लेख किया है जिसके अनुसार परमार्थ एक भी है और अनेक भी है। शङ्कर के अनुसार द्वैतभाव उपाधियों से घिरे हुए जीवात्मा के विषय में तो सत्य हो सकता है किन्तु उपाधियों से उन्मुक्त होने पर यह विनष्ट हो जाता है ।

भर्तृहरि – शङ्कर के विचार अपने इस पूर्ववर्ती विद्वान् से मेल खाते हैं । इनका ग्रन्थ 'वाक्यपदीय' व्याकरणविषयक होने पर भी प्रसिद्ध दार्शनिक ग्रन्थ है । अद्वैतसिद्धान्त ही इसका उपजीव्य है । इसी प्रकार उपरोक्त अन्य आचार्यों की रचनाओं में अद्वैत वेदान्त की सूक्ष्म विचारदृष्टि का संकेत मिलता है ।

ब्रह्मसूत्र के अनेक भाष्यों में भगवान् शङ्कराचार्य ने ही विशेष ख्याति प्राप्त की है । इनके पूर्व उपवर्ष, बोधायन, भर्तृप्रपंच आदि भाष्यकारों के नाम और सिद्धान्त अर्वाचीन ग्रन्थों में संग्रहीत हैं । शङ्कर का उल्लेख करके परवर्ती विद्वानों ने भाष्य लिखे। अर्वाचीन समय में भास्कराचार्य, यादवप्रकाश, रामानुज, श्रीकण्ठ, निम्बार्क, मध्व और वल्लभ के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं । इन्होंने विभिन्न पक्षों का अवलम्बन करके वेदान्त सूत्र पर अपने-अपने मत के अनुसार भाष्य बनाये थे । इन सब में शिरोमणि शाङ्करभाष्य ही है। शङ्कर ने प्रस्थानत्रयी पर भाष्य लिखा । इनमें वृहदारण्यक उपनिषद् का भाष्य सर्वाधिक प्रशंसनीय है । छान्दोग्य एवं बृहदारण्यक उपनिषदों के भाष्यों में भगवान् भाष्यकार की दिव्य लेखनी ने खुलकर अपनी अजेय

१. द्रष्टव्य, वृह०उ० शा०भा०, ५/१

२. द्रष्टव्य, ब्र०सू० शा०भा०, २/१/१४

शक्ति का परिचय दिया है - भर्तृप्रपंच ज़ैसे जरठ वेदान्तियों की खूब खबर ली है । परवर्ती विद्वानों के भाष्यों को शाङ्करभाष्यों के बराबर प्रतिष्ठा नहीं प्राप्त हो सकी । शङ्कराचार्य के भाष्य-निर्माण का मुख्य प्रयोजन वैदिक धर्म का पुनरुज्जीवन ही प्रतीत होता है ।[1]

अद्वैत वेदान्त के प्रमुख आचार्य -

गौडपादाचार्य - आचार्य शङ्कर के पूर्वकालीन अद्वैत वेदान्तियों में आचार्य गौडपाद का विशिष्ट स्थान है । प्राचीन अद्वैतवाद का पूर्णतया विकसित स्वरूप गौडपादाचार्य के दर्शन में ही उपलब्ध होता है । इनकी उज्जवल कीर्ति का ज्वलन्त उदाहरण है - माण्डूक्य कारिका । यह ग्रन्थरत्न ही अद्वैतसिद्धान्त की आधारशिला है।

डाक्टर दास गुप्त[2] एवम् अन्य कुछ विद्वानों ने आचार्य गौडपाद को बौद्ध दर्शन से प्रभावित मानने की चेष्टा की है । इस सम्बन्ध में इतना ही वक्तव्य है कि आचार्य गौडपाद के समय में बौद्ध सिद्धान्तों का प्रचुर प्रचार था, अस्तु यदि आचार्य गौडपाद की भाषा महायान के ग्रन्थों की भाषा से कुछ समता रखती है, तो इस स्वल्प साम्य से ही आचार्य को बौद्ध या बौद्ध साहित्य से प्रभावित मानना उचित नहीं है ।

इनके सभी सिद्धान्त औपनिषद हैं। ब्रह्माद्वैत[3] का परिष्कृत स्वरूप उन्होंने जिस सुन्दर शैली में प्रस्तुत किया है, वह विद्वत् समाज के लिए आदर का विषय है। वे अजातवाद[4] के प्रतिष्ठाता थे और मायावाद[5] का बीजारोपण भी उनके द्वारा हो चुका था । आचार्य गौडपाद के नाम से उ त्तरगीता तथा सांख्यकारिका का भाष्य भी मिलता है किन्तु सांख्यदर्शन के भाष्यकर्ता सम्भवतः यह गौडपाद नहीं थे।[6] गौडपादाचार्य सातवीं शताब्दी में हुए थे[7] और यही मत डा० राधाकृष्णन् का भी है कि इनका समय सातवीं शती का उत्तरार्द्ध अथवा आठवीं शती का प्रारम्भ था।[8] भवविवेककृत तर्कज्वाला

---

१. डॉ० गोपीनाथ कविराजःभा०सं० और सा०, प्रथम भाग, पृ० ८८

२. द्रष्टव्य - डॉ०एस०एन० दास गुप्त:भा०द०, भाग १, पृ० ४२३

३. द्रष्टव्य - मा०का०, १/१, १०, १६-१८।

४. द्रष्टव्य - मा०का०, ३/२०, २१, ४८ एवं ४/२२, ४०।

५. द्रष्टव्य - मा०का०, ३/१६, २४ एवं ४/५८।

६. डॉ० राधाकृष्णन् :भा०द०, भाग २, पृ० ४४६।

७. द्रष्टव्य - ब्रह्मसिद्धि, भूमिका, पृ० ५८ ।

८. भा०द०, भाग २, पृ० ४४६।

के तिब्बतीय अनुवाद के आधार पर इन्हें ५०० ई० के पूर्व मानना ही अधिक समीचीन प्रतीत होता है ।[1] आचार्य गौडपाद श्री शङ्कराचार्य के गुरुमह थे और आचार्य शङ्कर ने जिस अद्वैतसिद्धान्त का प्रतिपादन किया, वह गौडपादाचार्य के ही दर्शन का सुष्ठु एवं सैद्धान्तिक स्वरूप है ।

गोविन्दभगवत्पाद – गौडपाद के शिष्य और शङ्कराचार्य के गुरु[2] गोविन्दभगवत्पाद का कोई वेदान्त ग्रन्थ नहीं मिलता । 'रसहृदय' नामक रसायनशास्त्र का एक गन्थ उनके नाम से अवश्य उपलब्ध होता है।[3] विद्यारण्य के मत में गोविन्दपाद महाभाष्यकार पंतजलि के रूपान्तर थे।[4] किन्तु यह असंगत जान पड़ता है । वस्तुतः गोविन्दपाद का ऐतिहासिक विवरण अप्राप्त है। जनश्रुति है कि उनका शरीर रसप्रक्रिया से सिद्ध था तथा एक सहस्र वर्ष की वय में भी वे षोडशवर्षीय प्रतीत होते थे।

शङ्कराचार्य – जिस क्षण भारत के मानचित्र पर हमारी दृष्टि पड़ती है, आसेतु हिमालय हमें आचार्य शङ्कर के विराट् व्यक्तित्व के दर्शन होते हैं। आचार्य शङ्कर राष्ट्रनिर्माता युगविभूति थे । उनका एक ही सार्थक परिचय है, 'संस्कृति पुरुष' । आचार्य शङ्कर का व्यक्तित्व एवं विचार इतना रहस्यपूर्ण तथा अतिमानवीय है कि उसका साधिकार परिचय देना सम्भव नहीं है । उनका समय सन् ७८८ ई० से ८२० ई० माना जाता है ।

'अध्यात्म महारथी भगवत्पाद आचार्य शङ्कर केवल एक महान् दृष्टा और अद्वैत सिद्धान्त के मूर्धन्य प्रतिपादक ही नहीं थे, वरन् मूलतः हिन्दू धर्म के अन्तःप्रेरित समर्थक और देश के संबसे बड़े ओजस्वी धर्मप्रचारक थे । एक अपूर्व दृष्टा, अत्यन्त बुद्धिमान्, ब्रह्मज्योति से जगमग, प्रबल विश्वास और राष्ट्र सेवा की उत्कट इच्छा वाले सर्वदा तर्कसंगत और भावुक शंकर में उपनिषदों का सबसे योग्य दार्शनिक नायक मिला।'[5]

---

१. द्रष्टव्य – जैकोबी, 'जर्नल आफ दि अमेरिकन ओरियण्टल सोसाइटी', अप्रैल, १९१३ जैकोबी का मत है कि कारिका ब्रह्मसूत्र से अर्वाचीन है ।

२. अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ विवेक चूड़ामणि के मंगलाचरण में शङ्कराचार्य ने अपने गुरुदेव की इस प्रकार वंदना की है –
सर्ववेदान्तसिद्धान्तगोचरं तमगोचरम् ।गोविन्दं परमानन्दं सद्गुरुं प्रणतोऽस्म्यहम् ।।१।।

३. द्रष्टव्य – स०द०सं०-रसेश्वर-दर्शनम्, पृ० ३७८ ।

४. द्रष्टव्य -श०दि०, ५/६४ ।

५. स्वामी चिन्मयानन्द – 'अध्यात्म महारथी शङ्कराचार्य' लेख से उद्धृत ।

शङ्कर का अद्वैतवाद भारतीय प्रज्ञा का उच्चतम निदर्शन एवं भारतीय दर्शन की अनुपम निधि है । उनका ब्रह्मसूत्र भाष्य सबसे प्रसिद्ध एवं प्रतिष्ठित भाष्य है, इसमें वेदान्त के सिद्धान्तों का विद्वत्तापूर्ण विश्लेषण किया गया है और यह परवर्ती साहित्य का सुदृढ़ आधार है। शाङ्करभाष्य की गम्भीरता, विद्वत्ता, स्फुटता और प्रामाणिकता सभी ने स्वीकार की है । आचार्य शङ्कर ने समस्त वेदान्तवाक्यों का अद्वितीय ब्रह्म में समन्वय कर जो ब्रह्मात्मैकत्व का उपदेश किया,[1] वस्तुतः वह प्रत्येक प्राणी के लिए अन्धकार से प्रकाश की ओर जाने की प्रवल प्रेरणा है । शाङ्करवेदान्त उपनिषदों के एकत्ववाद का युक्तिसिद्ध परिणाम है । शङ्कर ने अद्वैतवाद प्रतिपादन के द्वारा केवल आत्मा एवं ब्रह्म की सत्यता तथा जगत् के मिथ्यात्व का समर्थन किया है ।[2] ईश्वर की आत्मभूता माया शक्ति[3] ही इस दृश्यमान् जगत् का कारण है और यह जगत् ब्रह्म से अनन्य है ।[4] उस अद्वैत तत्त्व का ज्ञान हो जाने पर सब कुछ ज्ञात हो जाता है।[5]

शङ्कराचार्य की कृतिरूप से प्रायः २०० ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं । इनमें प्रकरणग्रन्थ, भाष्य, स्तोत्र प्रभृति नानाप्रकार के लेख और रचनाएं हैं।[6] यह कहना कठिन है कि स्वयं शङ्कर ने कितने ग्रन्थ लिखे ।[7] फिर भी कुछ ग्रन्थ ऐसे हैं जिनके विषय में आदिशङ्कर का कर्तृत्व निर्विवाद है । ब्रह्मसूत्र, गीता एवं दशोपनिषद्[8] भाष्य सर्वसम्मति से आदिशङ्कर प्रणीत हैं । विष्णुसहस्त्रनामभाष्य, सनत्सुजातभाष्य, गायत्रीभाष्य और मण्डलब्राह्मणोपनिषद् पर राजयोगभाष्य, आदिशङ्करकृत ही माने जाते हैं । उपदेशसाहस्री, विवेकचूड़ामणि, आत्मबोध, अपरोक्षानुभूति, पञ्चीकरण, दक्षिणामूर्तिस्तोत्र, मोहमुद्गर और ब्रह्मज्ञानावलीमाला इत्यादि ग्रन्थ आद्यशङ्करकृत प्रसिद्ध हैं। प्रपञ्चसार, सौंदर्यलहरी और आनन्दलहरी आदि ग्रन्थों का कर्तत्व संदेहपूर्ण है ।

आचार्य शङ्कर महाज्ञानी तथा महायोगी पुरुष थे । उनके ही प्रभाव एवं प्रयत्न से वैदिक धर्म की पुनःप्रतिष्ठा हुई थी। वे भगवान् शङ्कर का ही रूपान्तर थे, जिन्होंने लोककल्याणार्थ अनेक अनुपम कार्य किये। आचार्य शङ्कर ने अपनी ३२ वर्षीय आयु

---

१. द्रष्टव्य - ब्र०सू०शा०भा०, १/१/४।
२. 'ब्रह्मसत्यं जगन्मिथ्येत्येवंरूपो विनिश्चयः ।'-वि०चू०,२०।
३. द्रष्टव्य - ब्र०सू०शा०भा०, १/४/३।
४. द्रष्टव्य - ब्र०सू०शा०भा०, २/१/१४।
५. द्रष्टव्य -बृह०उ०, शा०भा० २/४/५।
६. डॉ० गोपीनाथ कविराज भा०सं० और सा०, भाग २, पृ० ६६।
७. डॉ० एस०एन० दास गुप्त : भा० द०,भाग २, पृ० ७३ ।
८. ईश, कठ, केन, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय, छान्दोग्य एवं बृहदारण्यक ।

की अवधि में सदुपदेशों द्वारा देश को सुरक्षित किया । कन्याकुमारी से लेकर हिमालय तक देश का २-३ बार भ्रमणकर नास्तिक मत का खण्डन कर वैदिक मत का पुनरुत्थान तथा प्रतिष्ठा की । वैदिक वर्णाश्रमधर्म एवम् अद्वैतवेदान्त के प्रचारार्थ देश में चार पीठों की स्थापना की ।[1] आचार्य श्री को 'छः मत प्रतिष्ठापनाचार्य' कहते हैं। आप अद्वैतमत के प्रचारक एवं संस्थापक थे । साथ ही 'गाणपत्य', 'शाक्त', 'शैव', 'वैष्णव', 'सौर' और 'कौमार' मतों के प्रतिष्ठापक भी थे । इन सभी मतों का अपने अद्वैत मत में पर्यवसान किया ।

श्री शङ्कराचार्य का शिष्यवर्ग -

सुरेश्वराचार्य (८०० ई०) - सुरेश्वराचार्य मण्डन मिश्र का ही संन्यास आश्रम का नाम है।[2] किन्तु इस विषय में भयंकर मतभेद[3] होने के कारण निश्चयपूर्वक कुछ भी कहना कठिन है । मण्डन मिश्र ने ब्रह्मसिद्धि नामक एक उच्चकोटि का वेदान्त ग्रन्थ लिखा था।[4] सुरेश्वराचार्य ने वृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यवार्तिक, तैत्तिरीयोपनिषद्भाष्यवार्तिक, दक्षिणामूर्तिस्तोत्रवार्तिक, पंचीकरणवार्तिक तथा नैष्कर्म्यसिद्धि इत्यादि ग्रन्थों का निर्माण किया । सुरेश्वराचार्य का प्रमुख सिद्धान्त आभासवाद है, जिसके अनुसार जगत् आभासमात्र है।[5] मूलतत्त्व ब्रह्म एवम् आभासमात्र जगत् में एकत्व नहीं है[6] और जगत् की सत्यता का आभास किसी भी प्रकार सत्य नहीं है ।

---

१. उत्तर में ज्योतिष्पीठ, पूर्व में गोवर्द्धनपीठ, दक्षिण में श्रृंगेरीपीठ और पश्चिम में शारदापीठ । इसके अतिरिक्त शङ्कर ने अपने रहने के लिए काञ्ची में कामकोटिपीठ की स्थापना की थी ।

२. डा० राममूर्ति शर्मा :अद्वैत वेदान्त, पृ० १६७

३. सुरेश्वर एवं मण्डन का ऐक्य मानने वाले विद्वानों में प्रमुख हैं -

कर्नल जी०ए० जैकब, महामहोपाध्याय अनन्तकृष्ण शास्त्री, डा० उमेश मिश्र, डा० बलदेव उपाध्याय एवं श्री सुब्रह्मण्यम स्वामी आदि ।

दोनों में भेद मानने वालों में प्रमुख विद्वान् हैं - महामहोपाध्याय डा० गोपीनाथ कविराज, डा० एस० एन० दास गुप्त, प्रो० हिरियन्ना, डा० कुप्पुस्वामी एवं श्री आनन्दगिरि आदि ।

४. ब्रह्मसिद्धि पर चित्सुख की अभिप्रायप्रकाशिका, विद्यासागर की भावशुद्धि और शंखपाणि की टीका मिलती है। आचार्य वाचस्पति मिश्र की भी तत्त्वसमीक्षा टीका है, जो अभी तक प्रकाशित नहीं हुई है ।

५. द्रष्टव्य -बृह० भा० वा०, पृ० १२४५

(बृहदारण्यकभाष्यवार्तिक -३ भागों में)

(प्रकाशक-आ०ग्र०, १६६२ ई०, १६६३ ई०)

६. द्रष्टव्य - बृ०भा० वा०, पृ० ६६६।

पद्मपादाचार्य (८२० ई०) – शङ्कराचार्य के साक्षात् शिष्य आचार्य पद्मपाद ने शारीरकभाष्य के प्रथमांश की पञ्चपादिका नामक प्रसिद्ध व्याख्या की है ।[1] यह व्याख्या ही शाङ्करवेदान्त में विवरणप्रस्थान का मूलाधार है। पद्मपाद के एक अन्य ग्रन्थ आत्म-बोध-व्याख्यान का भी उल्लेख मिलता है ।[2] विज्ञानदीपिका तथा प्रपञ्चसारटीका की रचना भी उन्होंने की । आचार्य पद्मपाद के अनुसार माया और अविद्या पर्यायवाची शब्दों के रूप में प्रयुक्त हुए हैं। उनके मत में ब्रह्म अविद्या का आश्रय और विषय दोनों है। अविद्या स्वयंप्रकाश ब्रह्म के यथार्थस्वरूप में बाधा डालकर अपने आपको जीव में प्रकट करती है और ब्रह्म अपने अवच्छेद से अनादि अविद्या द्वारा अनन्त जीवों के अवभास का कारण बनता है। पद्मपाद तथा प्रकाशात्मयति जीव को ब्रह्म का केवल प्रतिविम्बित आकार मानने वाले प्रतिबिम्बवाद के सिद्धान्त के समर्थक हैं ।[3]

वाचस्पति मिश्र उक्त मत के विपरीत अवच्छेदवाद के समर्थक हैं । उनके मत में अविद्या का विषय जीव एवम् आश्रय ब्रह्म है । विवरण एवं वाचस्पति पक्ष की व्याख्या में मूलभूत अन्तर अविद्या के आश्रय एवं विषय को लेकर ही है । प्रथम पक्ष अविद्या का आश्रय एवं विषय दोनों ब्रह्म को मानता है, जबकि दूसरा पक्ष क्रमशः ब्रह्म एवं जीव को मानता है ।

शङ्कराचार्य के शिष्य हस्तामलकाचार्य सदैव आत्मस्वरूप में ही स्थित रहते थे। अतः इन्होंने लेखनादि का कार्य नहीं किया ।[4] आचार्य शङ्कर के सर्वाधिक श्रद्धालु एवं विनम्र शिष्य त्रोटकाचार्य के नाम से केवल त्रोटकस्तोत्र नामक ग्रन्थ मिलता है ।

वाचस्पति मिश्र (८४० ई०) – सर्वतन्त्र स्वतन्त्र वाचस्पति मिश्र का भारतीय दर्शन में अत्यन्त गौरवपूर्ण स्थान है । वैशेषिक दर्शन के अतिरिक्त अन्य सभी दर्शनों पर उन्होंने उत्कृष्ट टीकाएं की हैं । शारीरिक भाष्य पर भामती टीका उनकी कीर्ति का सुदृढ़ स्तम्भ है ।[5] उनकी यह टीका भामती प्रस्थान की जननी बनी । उनका दूसरा अद्वैत ग्रन्थ ब्रह्मसिद्धि की तत्त्वसमीक्षा टीका है । अवच्छेदवाद उनका मत है । जीव की अविद्योपाधि के कारण अनवच्छिन्न एवम् असीम ब्रह्म अवच्छिन्नता एवं ससीमता

---

१. इस व्याख्या पर प्रकाशात्मा (१२०० ई०) ने पंचपादिकाविवरण और पंचपादिकाविवरण पर माधवाचार्य (१३५० ई०) ने विवरणप्रमेयसंग्रह नामक एक अत्यंत उपयोगी एवं विस्तृत निवन्ध-ग्रन्थ बनाया है ।

२. डा० एस०एन० दास गुप्त : भा०द०, भाग २, पृ० ६८ ।

३. द्रष्टव्य – पं०पा०, प्रथम वर्णक, पृ० १०८ ।
एवं पं०पा०वि०, पृ० २८६ ।

४. 'शङ्कराचार्य के शिष्य' लेख से उद्धृत । (द्रष्टव्य – 'श्री शंकर चरितम्' – स्मारिका, पृ० ४६)

५. भामती पर अमलानन्द (१२५० ई०) ने कल्पतरु नामक टीका लिखी और कल्पतरु पर अप्पयदीक्षित (१५५०-१६२२ ई०) ने कल्पतरुपरिमल की रचना की है ।

को प्राप्त होता है । जिस प्रकार एक ही आकाश को घटाकाश, मठाकाश आदि सम्बोधित करते हैं उसी प्रकार एक ही असीम ब्रह्म अविद्योपाधि से अवच्छिन्नता को प्राप्त होता है ।[1] अविद्योपाधि के विनष्ट हो जाने पर शुद्ध आकाश की भांति शुद्ध चैतन्य मात्र शेष रह जाता है ।

सर्वज्ञात्म मुनि (६०० ई०) - सुरेश्वराचार्य के शिष्य सर्वज्ञात्म मुनि ने ब्रह्मसूत्र के ऊपर संक्षेपशारीरक नामक एक सुन्दर पद्यात्मक व्याख्यान बनाया था ।

प्रकाशात्मयति (१२वीं शताब्दी) - परमहंसपरिव्राजकाचार्य अनन्यानुभव के शिष्य यतिवर प्रकाशात्मा ने पंचपादिका पर विवरण नामक उत्कृष्ट व्याख्यानग्रन्थ लिखा है ।[2] अद्वैत दर्शन में विवरणप्रस्थान का श्री गणेश इसी ग्रन्थ से हुआ ।

इस परम्परा में ही स्वामी विद्यारण्य का स्थान है । इस विवरण ग्रन्थ को ही आधार बनाकर संस्कृत के विद्वानों में विख्यात अद्वैत सम्प्रदाय के महारथी पञ्चदशी आदि अनेक वेदान्त ग्रन्थों के प्रणेता आचार्य श्री विद्यारण्य स्वामी ने 'विवरणप्रमेयसंग्रह' नामक ग्रन्थ लिखा है ।

विवरण एवं भामती के आधार पर ही वेदान्त में दो प्रस्थान-विभेद हो गये[3] -

१. विवरण प्रस्थान

२. भामती प्रस्थान

परवर्ती काल में दोनों ही प्रस्थानों का पल्लवन हुआ । विवरण प्रस्थान वाले प्रतिविम्बवाद[4] और भामती प्रस्थान वाले अवच्छेदवाद[5] मानते हैं । यद्यपि

---

१. स एव तु अविद्योपाधानभेदात् घटकरकाद्याकाशवद् भेदेन प्रथते । -भामती, पृ० ४७२ ।

२. इसके अतिरिक्त शारीरकभाष्य पर न्यायसंग्रह नामक टीका एवं शाब्दनिर्णय नामक एक अन्य ग्रन्थ भी प्रकाशात्मा का है ।

३. जीव, ब्रह्म एवम् अविद्या के स्वरूप एवं सम्बन्धों को लेकर ही यह विभेद हुए और इस दृष्टि से पञ्चपादिकाविवरण और भामती इन दोनों ग्रन्थों का शङ्करोत्तर वेदान्त में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है।

४. जीव, परमात्मा का प्रतिविम्ब ही है । वह परमार्थतः परमात्मा से अभिन्न होते हुए भी अविद्योपाधि के कारण जीवात्मना सत्य है। जीव और परमात्मा के पारमार्थिक अभेद और औपाधिक भेद का प्रतिपादन जलचन्द्रादि प्रतिविम्ब के दृष्टान्त के आधार पर है। जैसे एक ही चन्द्र भिन्न-भिन्न जलों में प्रतिविम्बित होकर अनेक प्रकार से दीख पड़ता है, वैसे ही यह परमात्मा अनेक उपाधियों में भिन्न-भिन्न रूप में दृष्टिगत होता है। द्रष्टव्य - ब्र०सू०शा०भा०, ३/२/१८

५. अनवच्छिन्न परमात्मा ही अविद्योपाधि से अवच्छिन्न होता हुआ जीव रूप में उपचरित होता है। जैसे

(शेषांश अगले पृष्ठ पर)

सुरेश्वर स्वतन्त्ररूप से आभासवाद ही स्वीकार करते हैं । विवरणकार प्रकाशात्मयति का यह कथन है कि प्रतिबिम्बवाद श्रुति, स्मृति और ब्रह्मसूत्र से समर्थित होने के कारण उपादेय है।[1] भामतीकार वाचस्पति मिश्र रूपरहित चिदात्मा के प्रतिबिम्बित होने की असंभावना को प्रदर्शित कर प्रतिबिम्बवाद के अनौचित्य को दिखाते हुए शाङ्करभाष्य के आधार पर अवच्छेदवाद का प्रतिपादन करते हैं।[2] परवर्ती काल में दोनों प्रस्थानों के समर्थकों ने अपने-अपने मत को श्रेष्ठ सिद्ध करने का प्रयास किया है जैसे कि विवरणप्रमेयसंग्रहकार विद्यारण्य मुनि ने अवच्छेदवाद में अन्तर्यामिब्राह्मण की असंगति तथा प्रतिबिम्बवाद में इसकी संगति दिखाते हुए प्रतिबिम्बवाद को ही श्रेष्ठ सिद्ध करने का प्रयास किया है ।[3]

आनन्दबोधभट्टारक (१२वीं शताब्दी) के ३ अद्वैतग्रन्थ मिलते हैं - न्यायमकरन्द, प्रमाणरत्नमाला और न्यायदीपावली ।

अद्वैतानन्द का ब्रह्मविद्याभरण, शारीरकभाष्य पर उच्चकोटि का व्याख्यानग्रन्थ है।

विमुक्तात्मा (१२वीं शताब्दी) का इष्टसिद्धि एक उत्तम अद्वैत ग्रन्थ है ।

आचार्य चित्सुख (१२२० ई०) तत्त्वप्रदीपिका (चित्सुखी) नामक एक ही ग्रन्थसे प्रसिद्ध हो गये हैं । आपकी मौलिक एवं टीकात्मक रचनाएं एक दर्जन से अधिक हैं।

अमलानन्द (१३वीं शताब्दी) ने वेदान्त कल्पतरु (भामती की टीका), शास्त्र दर्पण (ब्रह्मसूत्र की व्याख्या) एवं पंचपादिका दर्पण ग्रन्थ लिखे हैं ।

विद्यारण्य(१३५० ई०) - अद्वैत वेदान्त के वर्चस्वी आचार्यों मे श्री विद्यारण्य का विशिष्ट स्थान है ।[4] उनके नाम से अनेकों रचनाएं प्रचलित हैं। आचार्य शङ्कर की ही भाँति उनके कर्तृत्व को विद्वान् विविधरूपों में देखते हैं ।[5] प्रो० काणे का यह

घटाकाश आदि उपाधियों के कारण अपरिच्छिन्न आकाश परिच्छिन्न की तरह अवभासित होता है । उपाधि के हट जाने पर जैसे घटाकाश महाकाश में विलीन हो जाता है, उसी प्रकार जीवत्व की उपाधि हट जाने पर शुद्ध ब्रह्म ही उपलब्ध होता है ।

द्रष्टव्य - ब्र०सू०शा०भा०, १/२/६

१. पं०पा०वि०, पृ० २८६। २. भामती, पृ० ७ - ८ ।

३. वि०प्र०सं०, पृ० २३२। ४. इनका विशेष विवरण इसी अध्याय में, अगले पृष्ठों पर दिया गया है ।

५. ब्रह्मनिष्ठ पण्डित श्री पीताम्बर जी कृत पंचदशी की तत्त्वप्रकाशिका भाषा व्याख्या में श्री विद्यारण्य जी को अनेक ग्रन्थों का कर्ता वताया गया है और नामधेयेन बीस रचनाओं को उनके प्रसिद्ध ग्रन्थों के रूप

(शेषांश अगले पृष्ठ पर)

कहना बहुत ही सत्य है कि नामसाम्य के कारण अनेक ग्रन्थ हमारे माधव (विद्यारण्य) के नाम से उल्लिखित कर दिये गये हैं ।[1] अद्वैत वेदान्त दर्शन पर उनकी प्रमुख रचनाएं हैं - पञ्चदशी, विवरणप्रमेयसंग्रह, जीवन्मुक्तिविवेक, अनुभूतिप्रकाश और बृहदारण्यकवार्तिकसार आदि ।

अद्वैतवेदान्त के अन्य महत्त्वपूर्ण आचार्य एवम् उनकी प्रमुख रचनाएं इस प्रकार हैं -

शारीरकभाष्य पर आनन्दगिरि की न्यायनिर्णय एवं गोविन्दानन्द की रत्नप्रभा टीका, श्री हर्ष का खण्डनखण्डखाद्य, मधुसूदन सरस्वती की अद्वैतसिद्धि, अप्पयदीक्षित का सिद्धान्तलेशसंग्रह एवं कल्पतरुपरिमल, सदानन्दयोगीन्द्र का वेदान्तसार, धर्मराजाध्वरीन्द्र की वेदान्तपरिभाषा, नृसिंहाश्रम का तत्त्वविवेक एवं भावप्रकाशिका, अखण्डानन्द का तत्त्वदीपन, प्रकाशानन्द की सिद्धान्तमुक्तावली, काश्मीरक सदानन्द यति की अद्वैतब्रह्मसिद्धि एवं केशवानन्द यति (१८०० ई०) की अनुभवानन्दलहरी ।

इसके अतिरिक्त भी अनेक अद्वैताचार्यों ने अपने पूर्वाचार्यों के ग्रन्थों की टीकाओं एवं मौलिक लेखन द्वारा अद्वैतसाहित्य की श्री वृद्धि की है। शाङ्करदर्शन की प्रगतिशील परम्परा अद्यापि प्रवर्तित है ।

स्वामी विद्यारण्य- जीवन परिचय एवं व्यक्तित्व -

अद्वैत वेदान्त के यशस्वी विद्वान् श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य श्री विद्यारण्य महामुनि का जन्म कर्नाटक प्रदेश में तुंगभद्रानदी के किनारे विजयनगर नामक सुप्रसिद्ध नगर में चौदहवीं शताब्दी ई० में हुआ था । इनका प्रारम्भिक जीवन भी यहीं व्यतीत हुआ । माधव, माधवार्य, माधवाचार्य और माधवामात्य, ये विद्यारण्य जी के पूर्वनाम

में उल्लिखित किया गया है ।
(द्रष्टव्य - पञ्च० : भूमिका)
आचार्य बलदेव उपाध्याय ने श्री विद्यारण्य के तेरह ग्रन्थों का उल्लेख किया है ।
(द्रष्टव्य - पं० बलदेव उपाध्यायः आचार्य सायण और माधव, पृ० १५: एवम् आगे)
प्रो० आर० तंगास्वामी ने अपने एक लेखपत्र में विद्यारण्यकृत बारह ग्रन्थों को मान्यता दी है।
(द्रष्टव्य - 'श्री विद्यारण्य एण्ड हिज वर्क्स' - प्रो० आर० तंगास्वामी,
डॉ० राममूर्ति शर्मा ने विद्यारण्यकृत सोलह ग्रन्थों को माना है । (अद्वैत वेदान्त, पृ० १७७)
सम्प्रति यही मान्यता अनेक विद्वानों की है, अस्तु तथ्यपूर्ण है।

१. द्रष्टव्य - पं० बलदेव उपाध्याय : आचार्य सायण और माधव, पृ० १५४।

थे।[1] बाद में विद्यारण्य[2] नाम हुआ।

चौदहवीं शताब्दी के राजनैतिक और धार्मिक दृष्टि से विश्रृंखलित परिदृश्य में दक्षिण भारत में विजयनगर साम्राज्य का उदय एक अपरिहार्य घटना थी । सांस्कृतिक राजनैतिक दृष्टि से प्राचीन हिन्दू परम्पराओं और संस्कृति के पुनर्जीवन का श्रेय इस साम्राज्य को ही है । आचार्य माधव को जीवन के यौवन में इसी विजयनगर साम्राज्य की स्थापना में विशेष सहायक के रूप में हम पाते हैं । आपने ही अपने सुयोग्य शिष्यों- हरिहर, बुक्क आदि पाँच भाइयों को स्वतन्त्र हिन्दू साम्राज्य की स्थापना एवं हिन्दू धर्म की रक्षा के लिए प्रेरित किया था । विजयनगर जैसे विशाल एवं समृद्ध साम्राज्य की स्थापना के साथ ही अपने जीवनपर्यन्त माधव ने हरिहर एवं बुक्क के राज-शासन में भी श्लाघनीय सहयोग किया ।

धार्मिक अशान्ति के कारण त्रस्त मानवता के परित्राण हेतु वैदिकमत के संस्थापक विद्वान् आचार्य के रूप में विद्यारण्यस्वामी का उद्भव एक अभिनव घटना थी । विद्यारण्यस्वामी वेदार्थसंस्थापक हिन्दूधर्मोद्धारक राजनीतिकुशल एवं सभी विद्याओं से परिपूर्ण एक विलक्षण एवम् उत्कृष्ट व्यक्तित्व थे। अनेक धार्मिक दार्शनिक ग्रन्थों की रचना कर, साहित्य एवं संस्कृति की अभिवृद्धि द्वारा गौरवान्वित श्री विद्यारण्य जी जीवन की गोधूलि बेला में धार्मिक संसार की 'जगत्गुरु' की महती पदवी से विभूषित होकर श्रृंगेरी मठ के शङ्कराचार्य के पवित्र सिंहासन पर प्रतिष्ठित हुए। उन्होंने श्री शङ्कराचार्य द्वारा अवशिष्ट अनेक मतों के खण्डनपूर्वक, अविचल श्रुतिमार्गसमूह-अद्वैतदर्शन, का निरूपण किया।

माधवाचार्य जी का जन्म एक सुप्रसिद्ध एवं विद्वत्परिवार में हुआ था । पराशरस्मृति के व्याख्यान के उपोद्घात में स्वयं ही उन्होंने अपने कुल गोत्रादिक ज्ञापित किये हैं[3] जिसके अनुसार उनके पिता मायण, माता श्रीमती एवं दो भाई सायण और भोगनाथ हैं। ऐसे बौद्धायन सूत्र एवं भारद्वाज गोत्र के सर्वज्ञ माधव हैं।

---

१. माधव, इनका जन्मनाम (नामकरण संस्कार से) था, महत् विद्वत्ता से माधवार्य, राजा के कुलगुरु (राजगुरु) होने से माधवाचार्य एवं हरिहर तथा बुक्कराज के प्रधानमंत्री होने से माधवामात्य नाम पड़ा।

२. 'विद्यानाम् अरण्यतुल्यः विद्यारण्यः' - विद्याओं के वन जैसे होने के कारण यह सार्थक नाम है ।

३. "श्रीमती जननी यस्य सुकीर्तिर्मायणः पिता ।
सायणो भोगनाथश्च मनोबुद्धी सहोदरौ ।।१।।
यस्य बौद्धायनं सूत्रं शाखा यस्य च याजुषी ।
भारद्वाजं यस्य गोत्रं सर्वज्ञः स हि माधवः ।।२।।" — (प०मा०)

माधवाचार्य का कुल नाम 'सायण' था । सर्वदर्शनसंग्रह ग्रन्थ के प्रारम्भ में सायण रूप क्षीरसागर की कौस्तुभ मणि रूप 'सायणमाधव' इस प्रकार के कथन से ग्रन्थकार का आत्मोल्लेख ही प्रदर्शित होता है ।[1] इसी प्रकार माधवीयधातुवृत्ति नामक ग्रन्थ के प्रारम्भिक श्लोक में इन्होंने अपने पितृदेव श्री मायण को भी सायण की उपाधि से अलंकृत किया ।[2] यह सायण पद वंश नाम का द्योतक है । माधव की प्रेरणा से उनके अनुज सायण ने ही वेदभाष्य की रचना की थी, ऐसा तैत्तिरीयसंहिताभाष्य के प्रारम्भिक श्लोक के पर्यालोचन से निश्चित होता है ।[3]

अभिलेखों से पता चलता है कि माधवाचार्य १३७७ ई० में संन्यासी हुए थे । किंवदन्तियों से पता चलता है कि इनकी मृत्यु ९० वर्ष की अवस्था में १३८६ ई० में हुई थी।[4] अतः माधवाचार्य के साहित्यिक कार्यों को १३३०-१३८५ ई० के मध्य रख सकते हैं।[5] संन्यास लेने के बाद माधवाचार्य, विद्यारण्यस्वामी के नाम से प्रख्यात हुए और श्रृंगेरी पीठाधीश्वर के रूप में १३७७ से १३८६ ई० तक विद्यमान रहे।

माधवाचार्य के ही समकालीन एक और माधव का पता चलता है ।[6] बुक्कराज के दरबार में माधवमंत्री रूप में प्रतिष्ठित ये एक उद्भट विद्वान् और प्रतापी योद्धा थे। शत्रुओं को परास्तकर, धर्म की स्थापना के साथ-साथ इन्होंने ब्राह्मणों को प्रचुर दान दिया । नामसाम्य के कारण, इन माधवमंत्री के कार्यकलाप, माधवाचार्य पर आरोपित

---

१. "श्रीमत्सायणदुग्धाब्धेः कौस्तुभेन महौजसा ।
क्रियते माधवार्येण सर्वदर्शनसंग्रहः ।।३।।
पूर्वेषामतिदुस्तराणि सुतरामालोच्य शास्त्राण्यसौ ।
श्रीमत्सायणमाधवः प्रभुरुपन्यासत् सतां प्रीतये ।।४।।" — (स०द०सं०)

२. "अस्ति श्रीसङ्गमक्ष्मापः पृथ्वीतलपुरन्दरः ।
तस्य मंत्रिशिखारत्नमस्ति मायणसायणः ।।" — (मा०धा०वृ०)

३. "आदिशन्माधवाचार्य वेदार्थस्य प्रकाशने ।
सह्याय नृपतिं राजन्सायणार्यो ममानुजः ।
सर्व वेत्त्येष वेदानां व्याख्यातृत्वे नियुज्यताम् ।।
इत्युक्तो माधवार्येण वीरबुक्कमहीपतिः ।
अन्वशासत् सायणार्यं वेदार्थस्य प्रकाशने ।।"

४. इस संदर्भ में हरिहर द्वितीय के समय के एक शिलालेख से पता चलता है कि वि०सं० १४४३ (१३८६ ई०) में विजयनगर में विद्यारण्य की मृत्यु हुई। इसके अनुसार वि०सं० १३५३ (१२९६ ई०) में माधव का जन्म हुआ था।

५. पी०वी० काणेः धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग १, पृ० ८६ ।

६. माधव नाम के एक मंत्री होने की सूचना १३४७ ई० के शिलालेख में मिलती है, जिनकी मृत्यु १३९१ ई० के बाद हुई थी ।

करना नितान्त इतिहास विरुद्ध है ।[1]

विद्यारण्य जी के तीन गुरु प्रतीत होते हैं – श्री विद्यातीर्थ,[2] श्री भारतीतीर्थ[3] एवं श्री शङ्करानन्द[4]। श्रीकण्ठ[5] नामक एक अन्य गुरु का भी उल्लेख मिलता है। सर्वदर्शनसंग्रह के मंगलाचरण में सर्वज्ञविष्णु नामक गुरु को प्रणाम किया गया है।[6] इस सम्बन्ध में विद्वानों की यह मान्यता ही उचित प्रतीत होती है कि संन्यासाश्रम स्वीकार करने के पूर्व शंकरानन्द ही सर्वज्ञ विष्णु थे ।[7]

आचार्य माधव पूर्वाश्रमकाल में विजयनगर के यदुवंशी बुक्कदेव राजा के कुल गुरु और प्रधानमंत्री थे।[8] गृहस्थाश्रम में भी अद्वैततत्त्वनिष्ठ और विवेक वैराग्यादि सकल सद्गुणों से विभूषित थे। गृहस्थाश्रम में ही आपने विद्वत्संन्यास धारण किया। किंवदन्ती है कि संन्यासग्रहण के पश्चात् पूर्व पुण्यपुञ्ज के परिपाक से गायत्री का साक्षात्कार होने पर, सम्पूर्ण कर्नाटक प्रदेश की समृद्धि हेतु स्वर्णमुद्राओं की वर्षा का वरदान मांगा। माँ की कृपा से वह सम्पूर्ण प्रदेश धनधान्य से परिपूरित हो गया ।

उत्तराश्रम में श्री विद्यारण्य स्वामी उपरम होकर ब्रह्मविचार में ही तत्पर रहते थे। वे परम विरक्त थे और रागद्वेषविनिर्मुक्त सर्वतंत्र स्वतन्त्र थे । किंवदन्ती है कि एक बार वन प्रदेश में किसी राजा की गिरी हुई सोने की ईंट पर बैठकर मलोत्सर्ग

---

१. पं० वलदेव उपाध्यायः आचार्य सायण और माधव, पृ० १३५ ।

२. "यस्य निःश्वसितं वेदा यो वेदेभ्योऽखिलं जगत् ।
निर्ममे तमहं वन्दे विद्यातीर्थमहेश्वरम् ।।१।।" – (जी०मु०वि०)
"प्रणम्य परमात्मानं श्री विद्यातीर्थरूपिणम्।
जैमिनीयन्यायमाला श्लोकैः संगृह्यते स्फुटम् ।।१।।" – (जै०न्या०वि०)
"सोऽस्मान् मुख्यगुरुः पातु विद्यातीर्थमहेश्वरः ।।" – (अ०प्र०-श्वे०उ०विवरणे)

३. "स भव्याद् भारतीतीर्थयतीन्द्रचतुराननात् ।
कृपां अव्याहतां लब्ध्वा परार्ध्यप्रतिमोऽभवत्।।७।।" – (जै०न्या०वि०)
"लब्धां आकलयन् स्वभावलहरीं श्रीभारतीतीर्थतः ।" – (का०नि०,उपोद्घात)

४. 'नमः श्रीशङ्करानन्द गुरुपादाम्बुजन्मने ।' – (पञ्च,१)
'यत् शङ्करानन्दपदं हृदब्जे विभ्राजते तद्यतयो विशन्ति' – (वि०प्र०सं०)

५. "लब्धां आकलयन् प्रभावलहरीं श्रीभारतीतीर्थतः
विद्यातीर्थं उपाश्रयन् हृदि भजे श्रीकण्ठं अव्याहतम् ।।" – (का०नि०)

६. "श्रीशार्ङ्गपाणितनयं निखिलागमज्ञं।
सर्वज्ञविष्णुगुरुमन्वहमाश्रयेऽहम् ।।२।।" – (स०द०सं०)

७. द्रष्टव्य – (इ०हि०क्वा०, वाल्यूम १४)

८. 'तस्य विभोरभूत कुलगुरुः मंत्री तथा माधवः ।' (प०मा०, ४/४)

करके चले गये । तब उस राजा ने ऐसे उदभट्ट विरक्त सन्त को खोजकर अत्यन्त प्रसन्न होकर ग्राम दान इत्यादि करना चाहा । इन्होंने उसे भी नहीं स्वीकार किया । आपने जीवन के अन्तिम भाग में शङ्कराचार्य के रूप में अनेक मतों के खण्डनपूर्वक अद्वैतमत की स्थापना की ।

स्वामी विद्यारण्य विशाल व्यक्तित्व एवं बहुमुखी प्रतिभा के मूर्तरूप थे। इनका सम्पूर्ण जीवन कर्म और ज्ञान का अपूर्व सामञ्जस्य था। एक युग-संस्थापक के रूप में अवतरित होकर उन्होंने धर्म एवं देश की रक्षा की । देववाणी के प्रचार एवं प्रसार हेतु विजयनगर के विद्याप्रेमी नरेशों को प्रेरित किया और इस प्रकार तत्काल में हिन्दू धर्म के पुनरुद्धार में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया । संस्कृति के भिन्न-भिन्न अंगों पर ग्रन्थ रचना की, साथ ही साथ अनेक अन्य विद्वानों और लेखकों को भी ग्रन्थ-लेखन में प्रेरित किया । इनकी पाण्डित्यमण्डित रचनाएँ विद्वत्समुदाय में अत्यन्त सम्मान के साथ प्रतिष्ठित हैं । अपने समय के वे एक जाज्वल्यमान विभूति थे । अध्यात्मज्ञानसम्पन्न एक परमविरागी योगी होते हुए भी वे नित्य निरन्तर लोकोपकार एवं साहित्य और दर्शन की साधना में संलग्न थे । उन्होंने अपने जीवन के मध्याह्न काल में विजयनगर के महाराजाधिराजाओं के प्रधानमंत्री तथा गुरु के गौरवपूर्ण पद पर रहकर अत्यन्त ही कर्मप्रधान जीवन बिताया । जीवन के संध्याकाल में संन्यासाश्रम स्वीकार कर भारतीय धार्मिक संस्कृति के उत्थान का महनीय कार्य किया । माधव अपने समय की एक दिव्य विभूति थे, जिनमें आधिभौतिक शक्तियों के समान ही आध्यात्मिक शक्तियों का भी विशद विकास हुआ था ।[1] अपने प्रभाव से इन्होंने तत्कालीन दक्षिण भारत की भौतिक उन्नति तथा धार्मिक जागृति में विशेष सफलता प्राप्त की थी ।

विद्यारण्य जी का भारतीय दर्शन और विशेषतः अद्वैतदर्शन के इतिहास में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। वे भारतीय विद्या के धुरंधर पण्डित थे और उन्होंने अल्पकाल में ही सभी विद्याओं का अध्ययन किया था । वे अपूर्व विद्वान् थे और इस दृष्टि से सर्वशिरोमणि श्री शङ्कर मत में आचार्यों को छोड़कर, श्री विद्यारण्य स्वामी जैसे अन्य विद्वान् नहीं हुए हैं। ख्याति में शङ्कराचार्य के बाद उन्हीं का स्थान है ।[1] आचार्य माधव बहुमुखी प्रतिभा के एक प्रकाण्ड एवं विलक्षण विद्वान् थे । वे अत्यन्त त्यागी, बुद्धिमान्, व्यवहारचतुर, कर्तव्यशील और महाविभूतियुक्त पुरुष थे । दूरदर्शी

१. पं० बलदेव उपाध्यायः आचार्य सायण और माधव, पृ० १५० ।

राजनीतिज्ञ के रूप में उनका मूल्यांकन विजयनगर साम्राज्य की स्थापना एवं उस साम्राज्य के सफल संचालन से किया जा सकता है । वे जनसुख हेतु परोपकार की उच्चतम भावना से निष्काम कर्म करते हुए राज्य आदि लौकिक कार्यों को उत्तमरूप से संचालित करते थे ।[2] एक पहुँचे हुए संन्यासी और जीवन्मुक्त होते हुए भी दिन रात उत्तम कार्यों में संलग्न आचार्य माधव वस्तुतः कोई दिव्य विभूति ही थे ।

श्री विद्यारण्य जी ने अद्वैतवेदान्त की जो सेवा की है, वह विशेष गौरव रखती है। उनका विशद ज्ञान एवं शास्त्रीय पाण्डित्य अपने आप में परिपूर्ण है । स्वयं साहित्य रचना द्वारा, अपने भाई श्री सायणाचार्य को वेदभाष्य लिखने के लिए प्रोत्साहन द्वारा तथा अपने आश्रयदाताओं के वर्णाश्रम धर्म पालन के द्वारा, माधवाचार्यने सम्पूर्ण भारतवर्ष में वैदिकधर्म की जागृति तथा पुष्टि में अनुपम योगदान दिया था । वे कवि[3], दार्शनिक, राजनीतिज्ञ, तत्त्वनिष्ठ महान् लोकसंग्रही तथा पूर्ण त्यागी थे । एक सफल गृहस्थ एवम् अग्रगण्य संन्यासी के रूप में उन्होंने साहित्य एवं समाज की जो सेवा की, वह कहने का विषय नहीं है ।

-----

१. पी०वी० काणे: धर्मशास्त्र का इतिहास भाग १, पृ० ८६ ।

२. 'ज्ञानिनाचरितुं शक्यं सम्यग् राज्यादि लौकिकम्।' - पञ्च,

३. 'शङ्करदिग्विजय' विद्यारण्य जी की सुललित काव्यरचना है ।

तृतीय अध्याय

विद्यारण्य के ग्रन्थों का सामान्य परिचय

विद्यारण्य जी असाधारण प्रतिभासम्पन्न विद्वान् थे । उन्होंने विविध विषयों पर लेखनी चलाई है । धर्मशास्त्र, ज्योतिषशास्त्र, व्याकरणशास्त्र और वेदान्तशास्त्र के ऊपर उन्होंने अनेक ग्रन्थ लिखे हैं ।[1] यहाँ पर सामान्य रूप से उनकी रचनाओं का अलग-अलग परिचय दिया जाएगा ।

(१) पञ्चदशी - अद्वैतवेदान्त का यह एक सर्वमान्य एवं सुप्रतिष्ठित प्रकरण ग्रन्थ है । यह अर्वाचीन अद्वैत का एक शास्त्रीय ग्रन्थ है ।[2] इस ग्रन्थ के एक-एक श्लोक में विचित्र आनन्द और गाम्भीर्य है । अनुभवी साधक इसमें विशेष सुख की अनुभूति करते हैं । अद्वैतसाधना का यह एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है । जीव-ब्रह्म की एकता के प्रतिपादन के साथ ही इसमें प्रपंचात्मक जगत्, जगत्कारण रूप आत्मा, परमात्मा, जीव, बन्धन एवं मोक्ष आदि सभी विषयों पर विस्तारपूर्वक विचार किया गया है। पञ्चदशी में पन्द्रह प्रकरण तथा सब कुल १५७१ श्लोक हैं । यह ग्रन्थ विद्यारण्य तथा भारतीतीर्थ की सम्मिलित कृति है, ऐसा व्याख्याकार मानते हैं ।[3] निश्चित रूप से यह विद्यारण्य की रचना है, जो किसी विघ्नवश पूर्ण न हो सकी और जिसे बाद में श्री भारतीतीर्थ ने सम्पूर्ण किया । इस ग्रन्थ पर विद्यारण्य के शिष्य रामकृष्ण की टीका सर्वोत्तम है ।

(२) विवरणप्रमेयसंग्रह - वेदान्तदर्शन में विशेष प्रसिद्धि प्राप्त यह ग्रन्थ श्री विद्यारण्य की अत्यन्त वैदुष्यपूर्ण रचना है । पंचपादिकाविवरण के ऊपर यह एक प्रमेयप्रधान ग्रन्थ है, जिसमें विवरण में कहे गए विषयों का स्पष्ट एवं ओजस्वी शैली में बोधगम्य विवेचन किया गया है । इसमें प्रकाशात्मा के तर्कों को अपने ही ढंग से

---

१. विद्यारण्य की कृतियों की संख्या के सम्बन्ध में द्वितीय अध्याय में विवेचन हो चुका है।

२. डॉ० राधाकृष्णन्: भा०द०, भाग २, पृ० ४४५ ।

३. पञ्चदशी के संस्कृत टीकाकार पं० रामकृष्ण के मत में, प्रारम्भिक छः प्रकरण विद्यारण्य कृत और अवशिष्ट नौ प्रकरण श्री भारतीतीर्थ गुरु कृत हैं ।

(द्रष्टव्य- पञ्च०: रामकृष्ण कृत तात्पर्यटीका, भूमिका)

निश्चलदास ने अपने 'वृत्तिप्रभाकर' (पृ० ४२४) में प्रारम्भिक दस अध्याय विद्यारण्य कृत एवं शेष पाँच अध्याय भारतीतीर्थ कृत माने हैं । श्री पं० पीताम्बर जी का भी यही मत है ।

विशद किया गया है । विवरण के ही विचारों का विस्तार होने से, इस ग्रन्थ के विषय में डॉ० दास गुप्त का यह कथन उचित ही प्रतीत होता है कि कुछ ही विचार ऐसे हैं जिनको वेदान्तविचारधारा के विकास में विद्यारण्य का मौलिक योगदान माना जा सके।[1] नौ वर्णकों वाले इस ग्रन्थ में जीवब्रह्मैक्य, अध्यासविचार, धर्मब्रह्मजिज्ञासावैलक्षण्य एवं ब्रह्मलक्षण इत्यादि का प्रतिपादन किया गया है । अप्पयदीक्षितकृत 'सिद्धान्तलेशसंग्रह' में इसी ग्रन्थ को 'विवरणोपन्यास' के नाम से उद्धृत किया गया है।[2] अतः विवरणोपन्यास को विवरणप्रमेयसंग्रह से भिन्न ग्रन्थ नहीं माना जा सकता। जैसा कि डा० दास गुप्त ने नामभेद हो जाने से इन दोनों ग्रन्थों को भिन्न-भिन्न मानने की भूल की है।[3]

(३) जीवन्मुक्तिविवेक[4] :- यह एक अत्यन्त महत्त्व का प्रौढ़ ग्रन्थ है । इसमें ब्रह्मत्व प्राप्ति के साधनों का निरूपण हुआ है । संन्यास के विभागपूर्वक जीवन्मुक्ति के विलक्षण सुख का प्रकार यहाँ दिखाया गया है । यह एक आचार सम्बन्धी ग्रन्थ भी है जिसमे रामायण, भागवत, महाभारत एवं श्रुति आदि से विविध उद्धरण प्रमाणरूप में प्रस्तुत किये गये हैं । इसमें ५ प्रकरण हैं -

१. जीवन्मुक्तिप्रमाणप्रकरण

२. वासनाक्षयप्रकरण

३. मनोनाशप्रकरण

४. स्वरूपसिद्धिप्रयोजनप्रकरण

५. विद्वत्संन्यासप्रकरण

इन प्रकरणों में इनके नामानुसार विषयों का प्रतिपादन हुआ है ।

(४) अनुभूतिप्रकाश[5] :- अनेकों उपनिषदों का अर्थसंग्रहरूपी यह ग्रन्थ, २० अध्यायों में विभक्त कारिकाबद्ध रचना है । इसमें वेदान्त की प्रमुख १२ उपनिषदों का

---

१. डॉ० एस०एन० दास गुप्तः भा०द०, भाग २ पृ० २०८

२. द्रष्टव्य - सि०ले०सं०, पृ० ६८
(प्रकाशक - ई०जे०लाजरस एण्ड कं० काशी, सं० १६४६)

३. डा० दास गुप्तः भा०द०, भाग २, पृ० २०८ ।

४. इस ग्रन्थ के विषय में विस्तृत विवेचन चतुर्थ अध्याय में किया गया है।

५. नि०सा०प्रे०से शक १८०३ में प्रकाशित ।

संक्षिप्त साख्यायिका सारार्थ दिखाया गया है । इस ग्रन्थ की उपादेयता का यही प्रमाण है कि उपनिषदों में बिना प्रवेश किये ही उनके सार अंश का ज्ञान सुगमता से हो जाता है।

(५) शङ्करदिग्विजय :- भगवान् शङ्कराचार्य के वृहत् जीवन चरित से सम्बद्ध यह एक उत्कृष्ट कोटि का काव्य है । इसकी कविता बड़ी मनोहर, प्रौढ़ और गम्भीर है । ग्रन्थ में १६ सर्ग हैं । दर्शन के अनेक सिद्धान्तों का वर्णन भी इसमें मिलता है । अनेक प्राचीन आचार्यों तथा स्थानों का भी निर्देश मिलता है । इस ग्रन्थ का ऐतिहासिक गौरव अधिक नहीं हैं । माधव की रचना स्वीकृत करने में भी विद्वानों की एक राय नहीं है ।[1] तथापि माधव को ही 'नवकालिदास' मानकर विद्वान् इसे उन्हीं की कृति मानते हैं ।[2]

(६) बृहदारण्यकवार्तिकसार - बृहदारण्यक उपनिषद् का स्थान अध्यात्मदृष्टि से बहुत ऊँचा है । इसी उपनिषद्भाष्यवार्तिक का श्लोकबद्ध संक्षिप्तसार इस ग्रन्थ में प्रस्तुत किया गया है । श्री विद्यारण्य मुनि ने श्री सुरेश्वराचार्य की सूक्तियों में बिखरे हुए ज्ञान रत्नों को एकत्र कर सरल एवं सरस इस अनुपम ग्रन्थ की रचना की है।

(७) अपेक्षानुभूतिदीपिका - शङ्कराचार्यकृत अपरोक्षानुभूति पर यह एक बहुत सुन्दर टीका है ।

(८) ऐतरेयोपनिषद्दीपिका[3] :- ऐतरेय उपनिषद् पर शाङ्करभाष्यानुसारी साररूप टीका है ।

(९) नृसिंहपूर्वोत्तरतापनीयोपनिषद्[4] :- नृसिंह उपनिषद् पर श्रीमच्छंकराचार्य विरचित पूर्वतापनीय भाष्य एवं विद्यारण्य प्रणीत उत्तरतापनीय दीपिका है । ग्रन्थ के अन्त में विद्यारण्य ने अपने गुरु का उल्लेख किया है ।[5]

---

१. द्रष्टव्य - डॉ० गोपीनाथ कविराजः भा०सं० और सा०, भाग १, पृ० ६५ ।

२. द्रष्टव्य - श्री शङ्करदिग्विजय (भूमिका) - अनुवादक पं० वलदेव उपाध्याय (प्रकाशक - श्री श्रवणनाथ ज्ञान मंदिर, हरिद्वार, सं० २०२४)

३. प्रकाशक - आ०ग्र०, १६३१ ।

४. प्रकाशक - आ०ग्र०, १६२६ ।

५. "इतिश्रीमच्छंकरानन्दपूज्यपादशिष्य श्रीमद्विद्यारण्यमुनीश्वरकृतौ श्रीनृसिंहोत्तरतापनीयोपनिषद्दीपिका समाप्ता ।"

(१०) दृग्दृश्यविवेक – यह ग्रन्थ द्रष्टा एवं दृश्य के विवेचन द्वारा आध्यात्मिक विचार का प्रवेशद्वार है । इसमें विविध प्रकार की समाधियों का विस्तृत विवेचन हुआ है। इस पुस्तक का एक नाम वाक्य सुधा भी है।[१] इस ग्रन्थ के कर्ता के विषय में मतभेद है[२] तथापि यह कृति सम्प्रति विद्यारण्यकृत मानी जाती है।[३]

(११) सर्वदर्शनसंग्रह – पाण्डित्यपूर्ण शैली में लिखे गए इस ग्रन्थ में माधवाचार्य ने तत्कालीन सभी प्रमुख दार्शनिक सम्प्रदायों का संकलन और उनकी सर्वाङ्गपूर्ण विवेचना की है। यह ग्रन्थ न केवल दर्शनों का संकलन मात्र है, अपितु एक प्रबन्ध ग्रन्थ के रूप में इसमें अद्वैत-मत की प्रतिष्ठा की गयी हे । प्रो० अनन्तलाल ठाकुर ने एक लेख में इस ग्रन्थ का रचनाकार चन्नीभट्ट को माना है ।[४] किन्तु विद्वानों ने प्रबल प्रमाणों द्वारा इसे माधवाचार्य की रचना सिद्ध किया है ।[५]

(१२) जैमिनीयन्यायमालाविस्तर – इस ग्रन्थ में मीमांसाधिकरणों की व्याख्या की गयी है । जैमिनीय सूत्रों को बोधगम्य बनाने के लिए प्रथम न्यायमाला नामक ग्रन्थ को लिखकर स्वोपज्ञ विस्तर नामक व्याख्या की गयी है । अत्यन्त गहन विस्तृत मीमांसा शास्त्र को इस ग्रन्थ में बड़ी ही सुन्दरतापूर्वक सरल एवं सुबोध बना दिया गया है ।

(१३) माधवीयधातुवृत्ति – एक वृहत् शब्दसंग्रह के साथ यह एक महत्त्वपूर्ण पाणिनीयव्याकरणसम्मत ग्रन्थ है । अहोबल पण्डित ने अपने तेलगु-व्याकरण में इसका प्रामाण्य माना है ।[६]

(१४) पराशर माधव – सरस एवं सुवोध शैली में लिखा गया यह ग्रन्थ पराशर-स्मृति का व्याख्यान है । इसमें व्यवहार सम्वन्धी विवेचन माधव ने अपनी ओर से जोड़ दिया है ।[७]

---

१. द्रष्टव्य – दृग्दृश्यविवेक (भूमिका) – टीकाकार ब्रह्मचारी विवेक चैतन्य
ब्रह्मानन्द भारती ने इस ग्रन्थ पर वाक्यसुधा नामक टीका भी लिखी है ।

२. टीकाकार ब्रह्मानन्द भारती इसे भारतीतीर्थ की रचना मानते हैं जवकि टीकाकार आनन्दगिरि ने इसकी भूमिका में शङ्कराचार्य की वन्दना की है। श्री निश्चलदास ने 'वृत्तिप्रभाकर' में इसे स्वामी विद्यारण्य की रचना बताया है ।

३. द्रष्टव्य – दृग्दृश्यविवेक (भूमिका) – अंग्रेजी अनुवाद स्वामी निखिलानन्द ।

४. द्रष्टव्य – ब्रह्मविद्याः दि अड्यार लाइब्रेरी बुलेटिन मद्रास, वाल्यूम २५, १९६१ ।
लेख – ("चन्नीभट्ट एण्ड दि आथरशिप आफ सर्वदर्शनसंग्रहः प्रो० ए०एल० ठाकुर")

५. द्रष्टव्य – सर्वदर्शनसंग्रह (भूमिका): व्याख्याकार श्री वासुदेवशास्त्री अभ्यंकर ।

६. 'वेदानां भाष्यकर्ता विवृतमुनिवचा धातुवृत्तेर्विधाता।
विद्यारण्योऽग्रगण्योऽभवदखिलगुरुः शङ्करोवीतशङ्कः ।।'

७. पी०वी० काणेः धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग १, पृ० ८६ ।

(१५) कालनिर्णय – पराशर स्मृति के बाद रचे गये इस धर्मशास्त्रीय ग्रन्थ में माधव ने धर्मानुष्ठान का काल विवेचन किया है । इसमें ५ प्रकरण हैं । कालनिर्णयात्मक इस ग्रन्थ को कालमाधव भी कहते हैं ।

(१६) वैयासिकन्यायमाला – यह शाङ्करभाष्य के अर्थ को समझने के लिए बड़ा उपयोगी ग्रन्थ है। भारतीतीर्थ एवं विद्यारण्य की सम्मिलित रचना है ।

इसके अतिरिक्त विद्यारण्य के नाम से अन्य भी अनेकों रचनाओं का उल्लेख मिलता है, जिनके विषय में कर्तृत्व का निर्धारण कुछ कठिन सा लगता है । ऐसा लगता है कि पण्डितों ने बहुत से ग्रन्थों की रचना करके अपने ग्रन्थों के प्रचारार्थ अथवा आदरातिशय के कारण माधवविद्यारण्य के नाम से प्रसिद्ध कर उनका प्रचार किया।

माधवनिदान[1] नामक आयुर्वेद ग्रन्थ निश्चित रूपसे माधवाचार्य की रचना नहीं है क्योंकि ग्रन्थ के अन्तिम पद्य से इसके रचनाकार इन्दुकर के पुत्र श्री माधवकर जाने जाते हैं ।[2]

ब्रह्मविदाशीर्वादपद्धति नामक ग्रन्थ इनकी रचना माना गया है।[3] इसमें भू-धातु के आशीर्लिङ्ग प्रत्ययान्त ५२ वाक्यों द्वारा अद्वैतसिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है । संगीतसार नामक संगीतशास्त्रीय ग्रन्थ भी गोविन्ददीक्षित कृत संगीतसुधा के निर्देश से इनकी रचना प्रतीत होती है।[4] देव्यपराधक्षमापनस्तोत्र इनकी रचना मानी जाती है, जिसके अनुसार इनकी आयु ८५ वर्ष से भी अधिक ज्ञात होती है ।[5]

सूतसंहिता के टीकाकार इन माधवाचार्य से भिन्न माधवमंत्री हैं, जिनका उल्लेख माधवाचार्य के जीवन परिचय में किया गया है ।

---

१. इस ग्रन्थ का प्रकाशन नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ से १६५१ में हुआ है । काशी ग्रन्थमाला चौ०वि० से भी प्रकाशन हुआ है । बम्बई से रुग्विनिश्चय नामक दीपिका सहित १८८४ ई० में प्रकाशित इस ग्रन्थ को माधवाचार्यकृत माना गया है ।

२. 'सुभाषितं यत्र यदस्ति किंचित्तत्सर्वमेकीकृतमत्र यत्नात्।
विनिश्यते सर्वरुजां नराणां श्रीमाधवेन्दुकरात्मजेन ।।'

३. प्रो० आर० तंगास्वामीः श्री विद्यारण्य एण्ड हिज वर्क्स, पृ० १५ ।

४. "संगीतसारं समवेक्ष्य विद्यारण्याभिध श्रीचरणप्रणीतम्" – (संगीतसुधा, द्वितीयाध्याय)

५. "परित्यक्ता देवी विविधविधसेवाकुलतया
मया पञ्चाशीतेरधिकमपनीते तु वयसि ।"

आचारमाधव, व्यवहारमाधव, वेदभाष्य (माधववेदार्थप्रकाश), शतप्रश्नकल्पलतिका, ब्रह्मगीताटीका एवं विद्यारण्यकालज्ञान आदि रचनाओं की प्रामाणिकता पूर्णतया संदिग्ध है । इसके अतिरिक्त डॉ० कविराज ने श्री विद्यारण्यकृत श्रीविद्यार्णव और शक्तिसंगम-तन्त्र को स्वीकृत किया है।[1] इनमें शङ्कर एवं शङ्कर सम्प्रदाय का वर्णन है ।

------

१. डॉ० गोपीनाथ कविराजः भा०सं० और सा०, भाग १, पृ० ६५ ।

चतुर्थ अध्याय

जीवन्मुक्तिविवेक : विवेचन

जीवन्मुक्तिविवेक (जीवन से मुक्ति या छुटकारे का मार्ग), भारत के संन्यासियों में प्रसिद्ध ग्रन्थ है और प्रकाण्ड विद्वान् विद्यारण्य के अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों में अद्वितीय है । वह 'मार्ग' जो उन्होंने इस ग्रन्थ में दिखाया है, निःसन्देह इसी जीवन में नित्य शान्ति एवम् आनन्द का विश्वस्त मार्ग है। इस ग्रन्थ का विषय मोक्षविवेचन और विशेषकर जीवनमुक्ति सम्बन्धी ज्ञान का प्रतिपादन है। जैसा कि ग्रन्थ के नामकरण से ज्ञात होता है, इसमें जीवन्मुक्ति का, अन्य विदेहमुक्ति से भेद कर विवेचन किया गया है ।[1] जीते हुए मुक्ति एवं मृत्यु के पश्चात् मुक्ति, मुक्ति के ये दो आदर्श बताए गए हैं, इन्हीं दोनों का अलग-अलग विवेचन इस ग्रन्थ का मुख्य विषय है । गद्यपद्यात्मक शैली में लिखे गए इस ग्रन्थ में जीवन्मुक्ति, वासनाक्षय, मनोनाश, स्वरूपसिद्धिप्रयोजन एवं विद्वत्संन्यास सम्बन्धित विषयों पर विचार किया गया है। दो प्रकार की विरक्ति[2], दो प्रकार के संन्यास[3] एवं दो प्रकार के मोक्ष[4] का वर्णन करता हुआ यह ग्रन्थ जीवन्मुक्त एवं परममुक्त अथवा विदेहमुक्त के स्वाभाविक भेद का निरूपण करता है । अपने सिद्धान्तों एवं वचनों की परिपुष्टि के लिए ग्रन्थकार ने, हिन्दू संस्कृति और दर्शन के आधारभूत अनेक अन्य विद्वानों के महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों[5] से उद्धरण प्रस्तुत किये हैं ।

विशेष – 'जीवन्मुक्तिविवेक' ग्रन्थ अधोलिखित दो स्थानों से प्रकाशित, मैं उपलब्ध कर सका हूँ –

(i) चौखम्बा प्रकाशन, बनारस, श्री उदय नारायण सिंह कृत भाषानुवाद सहित ।

(ii) ब्रह्मविद्याः दि अड्यार लाइब्रेरी बुलेटिन मद्रास, वाल्यूम ४१/१९७७। (अँग्रेजी अनुवाद सहित)

१. "जीवन्मुक्तेर्विवेकः इति जीवन्मुक्तिविवेकः" अर्थात् जीवन्मुक्ति का (विदेहमुक्ति से) विविक्त विवेचन ।

२. तीव्र एवं तीव्रतर

३. विविदिषासंन्यास एवं विद्वत्संन्यास

४. जीवन्मुक्ति एवं विदेहमुक्ति ।

५. व्यासकृत-गीता, वशिष्ठकृत-योगवासिष्ठ एवं शङ्करकृत-भाष्य आदि।

इस शोध प्रवन्ध में, प्रथम स्थान से प्रकाशित ग्रन्थ का ही प्रयोग करते हुए उद्धरण इत्यादि प्रस्तुत किए गए हैं।

सरल और विश्लेषणात्मक पद्धति में विद्यारण्य जी ने मुक्ति या संन्यास[1] का विवेचन विभिन्न प्रकार से किया है । मोक्षानुभूति का मार्ग एवं साधन और महत्त्व के कई विषयों पर विशद प्रकाश डाला गया है ।

प्रथम अध्याय, संन्यास[2] की प्रकृति सम्बन्धी विषय को लेकर प्रारम्भ होता है। विद्यारण्य के अनुसार संन्यास है – 'शारीरिक या मानसिक, प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से संसार से कोई सम्बन्ध न होना, सम्पूर्ण रूप से पृथकत्व या अलगाव में रहना एवं शास्त्रानुसारी सत्य-धर्म को धारण करना।' वे संन्यास को दो भागों में बांटते हैं, जिनमें प्रथम विविदिषासंन्यास विदेहमुक्ति का एवं द्वितीय विद्वत्संन्यास जीवन्मुक्ति का हेतु है। स्वयं संन्यास की उत्पत्ति वैराग्य से बतलायी गयी है।[3] लगाव का अभाव ही सच्चा संन्यास है, जो मुक्ति की ओर ले जाता है। मुक्ति का अर्थ है स्वतन्त्रता। शारीरिक या मानसिक स्वतन्त्रता नहीं, बल्कि आत्मा की सच्ची स्वतन्त्रता – परम तेज की प्राप्ति या दिव्य जीवन। जीवन्मुक्ति (जीवन में मुक्ति-इसी देह में छुटकारा या मोक्ष) के विवेचन में कहा गया है कि यह दासत्व या बन्धन से छुटकारा ही है। मानव-दासत्व, वासनाजन्य मन की क्रियाओं का प्रतीक है, अतः वासना एवं मन पर विजय प्राप्त करना, मोक्षसाधन कहे गए हैं। आत्मस्वातन्त्र्य की प्राप्ति का मार्ग, लेखक ने राम और वशिष्ठ के वार्तालाप के माध्यम से प्रकाशित किया है। जीवन्मुक्ति लक्षण का सम्भाषण इस प्रकार समाप्त होता है – 'उसके लिए, अनुभव के संसार में रहते हुए भी, यह सब कुछ नहीं रहता, सर्वत्र व्याप्त आकाश की भाँति (परमसुन्दर) चेतनाशक्ति केवल रहती है। इस प्रकार का व्यक्ति जीवन्मुक्त कहा गया है।'[4]

जीवन्मुक्ति का विवेचन, विदेहमुक्ति (मृत्यु के बाद मुक्ति) के वर्णन को प्रकाशित करता है। अध्याय का अन्त विविध आध्यात्मिक-धार्मिक ग्रन्थों[5] के विशद उद्धरणों से होता है। लेखक इनके द्वारा दोनों प्रकार की मुक्ति सम्बन्धी तर्कों को प्रमाणित करता है।

---

१. मोक्षमार्ग का अनिवार्य अंग (साधन) होने से, साधन और साध्य में अभेद करके कहीं-कहीं संन्यास को ही मोक्ष कहा गया है ।

२. 'सम्यङ्-न्यासः संन्यासः' अर्थात् ठीक प्रकार से या भलीभाँति रख देना (त्याग देना) । अतः समर्पण ही संन्यास है । इस संदर्भ में गीता का वचन द्रष्टव्य है –

'काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः ।' – भ०गी० १८/२।

३. 'संन्यासहेतुर्वैराग्यम्' – जी०मु०वि०, पृ० १ ।

४. द्रष्टव्य – जी०मु०वि०, पृ० ४७-४८ ।

५. भ०गी०, म०भा०, यो०वा०, परम०उ०, मु०उ०, बृह०उ०, नारद उ०, ईश०उ०, बृह०भा०वा०, उप०, भाग०, वि० पु० एवं मनु० ।

दूसरा अध्याय, जीवन्मुक्ति की दशा प्राप्ति के साधनों से सम्बन्धित है । ये ३ हैं - ज्ञान (ब्रह्मज्ञान), वासनाक्षय (गुप्त इच्छा का लोप) एवं मनोनाश (मन का विलय)।[1] वासनाक्षयप्रकरण नामक इस अध्याय में वासना[2] के स्वभाव (स्वरूप) और इसके विनाश के उपायों को बताया गया है । लेखक का कथन है कि यदि हम एक बार वासना के स्वभाव के वास्तविक स्वरूप को जान लें और स्पष्ट रूप से इसके विनाश के उपायों को समझ लें, तो मोक्षसम्बन्धी सम्पूर्ण ज्ञान सरलता से प्राप्त किया जा सकता है । यह अध्याय, इस महत्त्वपूर्ण प्रश्न का, क्रियात्मक या अनुभव रूप प्रणाली में स्पष्ट विवरण प्रस्तुत करता है । आध्यात्मिक उन्नयन के सभी उपायों का उद्देश्य और विषय, उच्चतर आत्मा का जीवन है, जो कि आदर्श है और उसी का यहाँ पर सुस्पष्ट विवेचन किया गया है । आत्मानुभूति के लिए हृदय का पवित्र होना और उसकी उदारता प्रायोगिक कर्मों में सर्वप्रमुख रूप से सम्मिलित हैं । हृदय की पवित्रता एवं उदारता कैसे प्राप्त की जा सकती है ? इस सम्बन्ध में इस प्रकार विवेचन हुआ है -'इन्द्रिय ज्ञान सम्बन्धी पदार्थों सहित सभी सम्बन्धों से पृथक् हुआ एवं बाह्य क्रियाकलापों से प्रतिबन्धित मन, हृदय की ज्योति में प्रकाशित होता है एवं सर्वोच्च स्थिति प्राप्त करता है । गुप्त इच्छा या प्रच्छन्न वासना, इस प्रकाश को नकारती है, अत्यन्त निकटता के प्रभाव से प्रायः इसे दबाती रहती है और प्रकट नहीं होने देती। इस गुप्त वासना को जीतकर जीवन्मुक्ति सरलता से प्राप्त करने योग्य है।[3] क्रिया के प्रभुत्व के बिना कर्म करते हुए मन और वासना के विघ्नकारक या उपद्रवी-अशांत करने वाले प्रभाव की अनुभूति से परे, इस शान्ति के स्थान को प्राप्त किया जा सकता है।' वासना अपने सभी विविध रूपों में विस्तृत रूप से वर्णित की गयी है । इस रूप में भी, कि किस प्रकार एक इच्छा, दूसरे को विनष्ट करने के लिए प्रयुक्त हो सकती है। वासनाक्षय का उपाय ही विरोधी वासना की उत्पत्ति को बताया गया है ।[4] इस प्रकार इच्छा के अन्तिम अवशेष तक की समाप्ति हो जाने पर आत्मज्ञान के प्रकाश

---

१. 'तत्त्वज्ञानमनोनाशवासनाक्षयास्तत्साधनम् ।' - जी०मु०वि०, पृ० ६२ ।

२. भोगजन्य संस्कारों को वासना कहते हैं । ग्रन्थ के प्रथम अध्याय में लेखक ने यही भाव प्रकट किए हैं - "वासना धर्माधर्मरूपा जीवगतसंस्काराः ।" - जी०मु०वि०, पृ० ३५ ।

३. चित्त (हृदय) की पवित्रता के लिए मनोनाश एवं वासनाक्षय की परस्पर कारणता का व्यतिरेक द्वारा वर्णन किया गया है -

"यावद्विलीनं न मनो न तावद्वासनाक्षयः ।

न क्षीणावासना यावच्चित्तं तावन्नशाम्यति ।।" - (ल०वा०, २८/१/११० से उद्धृत)

एवं विद्यारण्य कृत व्याख्यान - जी०मु०वि०, पृ० ६५-६६ ।

४. "वासनाक्षयस्य प्रतिकूलवासनोत्पादनमिति (साधनम्)।" - जी०मु०वि०, पृ०१०२ ।

का मार्ग सुलभ हो जाता है । सांसारिक जीवन, अध्ययन, शरीर सभी कुछ वासना के कारण प्रतिष्ठित हैं और इन्हीं सब को अपने से निकालने का व्यक्ति को प्रयास करना पड़ता है ।[1] इस प्रकार 'सांसारिक सम्पूर्ण लगाव को त्यागकर' व्यक्ति 'हृदय के असीमित अतिविशाल किंवा विकसित क्षेत्र' को प्राप्त करता है, जो कि जीवन्मुक्ति का दिव्य मार्ग है ।[2]

एक छोटा सा प्रश्न उठता है, क्या सम्पूर्ण व्यवहारों की सक्रिय हेतु वासना के समाप्त हो जाने पर, किसी भी प्रकार का अन्योन्यव्यवहार (समागम) सम्भव है ? इस सम्बन्ध में बहुत स्पष्ट रूप से विवेचन किया गया है कि वासना के विना ही विवेकी पुरुष की सभी कामों में प्रवृत्ति होती है ।[3] मुक्तिकोपनिषद् में भी यही बात कही गयी है, लेखक उसे उद्धृत करता है ।[4] अध्याय की समाप्ति प्राचीन इतिहास के प्रसिद्ध महात्मा-जीवन्मुक्त जनक जी के मुख्य गुणों के विश्लेषण के साथ होती है ।

मुक्ति का दूसरा मार्ग मनोपशमन या मनोनाश है । तृतीय अध्याय पूर्णरूप से इसी विषय का विवेचन करता है । मन, विभिन्न प्रकार की गुप्त (अप्रकट) इच्छांओं की निर्मिति (रचना) है। ये दो मन और इच्छाएं, एक दूसरे पर क्रिया और प्रतिक्रिया (प्रभाव) करते हैं और वासना का विनाश, मनोनाश के विना कभी भी निश्चित नहीं है । मनोनाश के दो प्रकार वर्णित किये गए हैं - भौतिक और मानसिक । बाद वाले अर्थात् मनोनाश के मानसिक प्रयास को वरीयता दी गयी है।[5] मन की सम्पूर्ण क्रियात्मकता के निरोध हेतु कई उपाय[6] बहुत स्पष्टतया एवं पूर्णरूप से बताए गए हैं।

---

१. "तदेतल्लोकशास्त्रदेहवासना ज्ञानप्रतिष्ठाविरोधित्वात् विवेकिभिर्हेयम् ।" - जी०मु०वि०, पृ० १५७ ।

२. "हृदयात्संपरित्यज्य सर्वमेव महामतिः।
यस्तिष्ठति गतव्यग्रः स मुक्तः परमेश्वरः ।।" - (ल०वा० १८/२६ से उद्धृत)
- (जी०मु०वि०, पृ०२०६)

३. "नीरागमेव पतति सर्वकार्येषु धीरधीः ।" - जी०मु०वि०, पृ० २११

४. "वासनाहीनमप्येतच्चक्षुरादीन्द्रियं स्वतः ।
प्रवर्तते बहिः स्वार्थे वासना नात्र कारणम् ।।" - मुक्ति० उ०, २/२२।
- (ग्रन्थ में पृ० २११ पर उद्धृत)

५. "निग्रहो द्विविधः हठनिग्रहः क्रमनिग्रहश्चेति ।
क्रमनिग्रहः एव योग्यः ।" - जी०मु०वि०, पृ० २२०-२१ ।

६. मनोनिरोध के ४ उपाय हैं -
१. अध्यात्मविद्या की प्राप्ति . २. महात्माओं का समागम
३. वासनाओं का परित्याग ४. प्राणों के स्पन्द का रोकना

मनोनाश के लिए योग की विविध क्रियाओं का वर्णन किया गया है। इसके बाद परमानन्द (उल्लास, हर्ष या समाधि) की अवस्था, जो कि जीवन्मुक्ति की वास्तविक स्थिति है, के मार्ग के अवरोधों या अन्तरायों[1] का विवेचन है ।

इस सबके बावजूद, पदार्थ सम्बन्धी या सांसारिक वस्तुओं के अभाव के सदृश, मुक्ति मन के अभाव की अवस्था नहीं है । मन शब्द यहाँ एक पदार्थभूत से भिन्न अर्थ में प्रयुक्त हुआ है । 'मन' आन्तरिक प्रक्रिया का वह अंग मात्र है जो अहं के माध्यम से वस्तुओं में कर्तृत्व को सम्बन्धित करता है। यह मन ही 'मैं' और 'तुम' की भ्राँन्ति पैदा करता है जिससे कि संसार बनता है। अलगाव का यह भाव (मैं और तुम), उस कल्पनातीत (अचिन्त्य) समष्टि (ब्रह्म) की व्यापकता में मिला देना चाहिए, जो अंगरूप में विभिन्न भागों में नहीं है, अपितु एक समष्टि है । मन के सार्वकालिक विघटन के लिए कहा गया है और तब अनन्तकालिकं उदात्त परमानन्द की अनुभूति होती है।

चौथे अध्याय में जीवन्मुक्ति के प्रयोजन या उद्देश्य (उपयोगिता) का सम्यक् उपन्यास है । ये पाँच उद्देश्य हैं[2] -

१. अध्यात्मविद्या का परिरक्षण

२. तपस्या का अभ्यास

३. विश्वव्यापक या सार्वभौम प्रेम का भाव

४. दुःख और दर्द का अन्त

५. परमानन्द का अनुभव

पाँचवा अध्याय, सत्य मार्ग - संन्यास के लक्षण (प्रकृति) के विषय में वास्तविक परीक्षण करता है । इस अध्याय में वर्णित संन्यास, प्रज्ञासम्पन्न (प्रबुद्ध या ज्ञानी) का संन्यास है, जिसे विद्वत्संन्यास कहते हैं। संन्यास, जो कि जीवन्मुक्ति के अनुभव के पूर्व की आवश्यक शर्त है, उस सच्चे संन्यास में परिपक्व होता है, जो कि परमहंस की अवस्था के रूप में माना जाता है । परमहंस सर्वोत्कृष्ट संन्यास है, इसे धारण करने

---

१. लक्ष, विक्षेप, कषाय और रसास्वाद ।

२. "ज्ञानरक्षातपोविसंवादाभावदुःखनाशसुखाविर्भावाः पञ्च प्रयोजनानि ।" - जी०मु०वि०, पृ०३२३ ।

वाला संन्यासी परमहंस[1] कहा जाता है। परम का अर्थ है - महान् और हंस, जैसा कि शङ्कराचार्य ने व्याख्या की है, का अर्थ है - सम्पूर्ण अविद्या का विनाशक अर्थात् आत्मा।

इस प्रकार परमहंस महान् आत्मा है, महान् तत्त्व है, वह तत्त्व जो कि सब कुछ है। उसकी परम अद्वैत में स्थिति होती है । अध्याय का समापन इसी प्रकार के परमहंस प्राणी के वर्णन में होता है। इस प्रकार जीवन्मुक्ति के सम्बन्ध में खोज करते हुए उपसंहार होता है ।

'जीवन्मुक्तिविवेक' की विषय-वस्तु -

प्रबन्धात्मक (गद्य-पद्य मिश्रित) शैली में लिखित यह ग्रन्थ दार्शनिक साहित्य की एक उत्तम रचना है । मोक्ष शास्त्रीय दृष्टि से यह एक अपूर्व और अनुपम ग्रन्थ है। इसकी विषयवस्तु पाँच प्रकरणों में विभक्त है । सभी प्रकरणों का विस्तृत विवरण प्रस्तुत है -

प्रथम प्रकरण : जीवन्मुक्तिप्रमाण

सम्पूर्ण ग्रन्थ की विषयवस्तु को पाँच प्रकरणों में विभक्त करते हुए, ग्रन्थारम्भ (प्रथम प्रकरण का आदि) में गुरु से अभिन्न श्री महेश्वर की वन्दना की गयी है।[2] इसके बाद विषय-विवेचन की प्रतिज्ञा की गयी है । ग्रन्थकार दो प्रकार के संन्यासों का एक-दूसरे से भेद करते हुए वर्णन करने का कथन करता है -

प्रथम - विविदिषासंन्यास, द्वितीय - विद्वत्संन्यास

इनमें से प्रथम विदेहमुक्ति का और दूसरा जीवन्मुक्ति का हेतु है ।[3]

---

१. 'परमः श्रेष्ठः हंसः सोऽहम् आत्मा यस्य' - (शब्दकल्पद्रुमः)

चार प्रकार के संन्यासियों में सर्वोत्कृष्ट कोटि का संन्यासी परमहंस कहा जाता है । कुटीचक, बहूदक, हंस और परमहंस - संन्यासियों की ये ४ कोटियाँ इसी ग्रन्थ के प्रारम्भ में बतलाई गई हैं । उनमें सर्वोत्तम परमहंस ही होता है ।

२. यस्य निःश्वसितं वेदा यो वेदेभ्योऽखिलं जगत् ।
निर्ममे तमहं वन्दे विद्यातीर्थमहेश्वरम् ।।१।।

३. वक्ष्ये विविदिषान्यासं विद्वन्यासं च भेदतः ।
हेतू विदेहमुक्तेश्च जीवन्मुक्तेश्च तौ क्रमात् ।।२।।
विविदिषा संन्यास का अर्थ है - जिज्ञासु का संन्यास ।
विद्वत्संन्यास का अर्थ है - विद्वान् (ज्ञानी) का संन्यास ।

संन्यास का हेतु वैराग्य[1] को बतलाते हुए यह निर्देश किया गया है कि जिस दिन वैराग्य हो, उसी दिन संन्यास ग्रहण करे । यह बात श्रुति द्वारा भी प्रमाणित बतलाई गयी है ।[2] संन्यास[3] भेद पुराणों[4] में प्रसिद्ध है । आत्मज्ञान का अन्तरंग होने के कारण संन्यास मुमुक्षुओं के द्वारा अवश्य आचरण करने योग्य है । यह त्याग का जीवन है। दूसरे शब्दों में यह औपनिषदिक जीवन है। ज्ञानयुक्त त्यागी पुरुष ही ब्राह्मी स्थिति प्राप्त कर सकता है, अन्य कोई भी नहीं। पूर्ण त्याग के बिना ब्रह्मविद्या के पथ का अनुसरण करना असम्भव ही है। वैराग्य जीवन की आवश्यकता है । इस संदर्भ में मुण्डक उपनिषद् का वाक्य द्रष्टव्य है जिसमें कहा गया है कि कर्म द्वारा प्राप्त लोकों की परीक्षा करके तथा उनका नश्वर फल देखकर वेदज्ञ ब्राह्मण को चाहिए कि वह उस पर वैराग्य उत्पन्न करे।[5]

---

१. विरक्ति ही वैराग्य है -

"विरागः कः ? इहस्वर्गभोगषु इच्छाराहित्यम् ।" - (तत्त्वबोध) ।

"दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम् ।" -(योग०सू०, १/१५)

"ज्ञानस्यैव पराकाष्ठा वैराग्यम् । एतस्यैव हि नान्तरीयकं कैवल्यमिति ।" - (यो०सू०भा०, १/१६)

२. इस संदर्भ में जावालोपनिषद् का वाक्य द्रष्टव्य है -

"यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजेत् ।" - (जावा० उ०, ४)।

३. प्राचीन भारतीय मनीषियों ने जीवन को आत्मसाक्षात्कार अथवा परमनिर्वाण का साधन-मात्र माना था। जीवन के चार आश्रमों को ध्यान में रखते हुए संन्यास अन्तिम और चौथा है और यह मोक्ष का साक्षात् साधन है ।

"चतुर्थमायुषोभागं त्यक्त्वा सङ्गान् परिव्रजेत् ।" - (मनु०, ६/३३) ।

"ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेत् ।" - (मनु०, ६/३५) ।

(यज्ञों द्वारा देवऋण, पुत्रोत्पत्ति द्वारा पितृऋण एवं स्वाध्याय द्वारा ऋषिऋण से मुक्त होकर मन को मोक्ष (संन्यास) में लगाना चाहिए।)

मनु ने संन्यासी को मोक्षाधिकारी कहा है -

"यो दत्त्वा सर्वभूतेभ्यः प्रव्रजत्यभयं गृहात्।
तस्य तेजोमया लोका भवन्ति ब्रह्मवादिनः।।" - (६/३६)।

"इन्द्रियाणां निरोधेन रागद्वेषक्षयेण च।
अहिंसया च भूतानाममृतत्वाय कल्पते।।" - (६/६०)।

यदा भावेन भवति सर्वभावेषु निस्पृहः।
तदा सुखमाप्नोति प्रेत्य चेह च शाश्वतम्।।" - (६/८०)।

४. धर्म एवम् इतिहासयुक्त प्रचलित ग्रन्थ ।

५. "परीक्ष्य लोकान्कर्मचितान्ब्राह्मणो निर्वेदमायात् ।" - (मु०उ०, १/१२) ।

वैराग्य दो प्रकार का बतलाया गया है - तीव्र और तीव्रतर । इनमें से तीव्र वैराग्य होने पर योगी कुटीचक[1] संन्यास धारण करे, तीव्र वैराग्यवान् योगी और सामर्थ्यवाला होने पर बहूदक[2] संन्यास ग्रहण करे।

तीव्रतर वैराग्य होने पर हंस[3] नामक संन्यास लेवे, तीव्रतर वैराग्यवान् योगी यदि मुक्ति चाहने वाला हो, तो वह साक्षात् अपरोक्ष ज्ञान (आत्मसाक्षात्कार) के साधन-भूत परमहंससंन्यास[4] को स्वीकार करे ।

क्रमशः मन्द, तीव्र और तीव्रतर वैराग्य का वर्णन प्राप्त होता है। सांसारिक पदार्थों - स्त्री, पुत्र, गृह आदि के नाशकाल में संसार की निःस्सारता वाली बुद्धि मन्द वैराग्य है। इस मन्द वैराग्य में किसी संन्यासाश्रम का अधिकार नहीं है।[5]

तीव्र वैराग्य इस प्रकार की स्थिर बुद्धि है कि 'इस जन्म में मुझे स्त्रीपुत्रादिक कोई भी पदार्थ न होवें'।

तीव्रतर वैराग्य, इस जन्म में एवं पुनर्जन्म में किसी भी लोक की इच्छा न होने वाली वृत्ति है।

कुटीचक एवं बहूदक संन्यासों के अधिकारी तीव्र-वैराग्यवान् पुरुष बतलाए गए हैं। ये दोनों प्रकार के संन्यासी त्रिदण्डी[6] होते हैं ।

---

१. महाभारत इत्यादि पवित्र ग्रन्थों में चार प्रकार के संन्यासी कहे गये हैं - कुटीचक, बहूदक, हंस और परमहंस । इनमें पूर्व पूर्व की अपेक्षा उत्तरोत्तर को उत्तम कहा गया है -

"चतुर्विधा भिक्षवस्ते कुटीचकबहूदकौ ।

हंसः परमहंसश्च यो यः पश्चात्स उत्तमः ।।"- (म०भा०) ।

एक स्थान पर कुटी में रहकर ब्रह्मध्यान करता हुआ संन्यासी कुटीचक होता है । ये तीर्थस्थानादि में यात्रादिक में सामर्थ्यहीन होने से कुटी बनाकर रहते हैं ।

२. तीर्थाटन करने वाला संन्यासी बहूदक होता है ।

३. हंस संज्ञक संन्यासी, एक हंस के समान, सातवें स्वर्ग (ब्रह्मलोक) में उड़ता (विचरण करता) है ।

४. परमहंस संन्यासी इसी जीवन में मुक्ति सुख को प्राप्त करता है ।

५. "मन्दे न्यासो न कोऽपि हि ।" - जी०मु०वि० पृ०३ ।

६. एक साथ जुड़ी हुई, ३ लम्बी, पतली बाँस की लकड़ियों (छड़ियों) को धारण करने वाले, शरीर, मन एवं वाणी से सम्बद्ध सभी वस्तुओं के इन तीनों (शारीरिक, मानसिक एवं वाचिक) प्रकार के संन्यास के सूचक और इस प्रकार इन तीनों से परे परब्रह्म या परम अव्यक्त में निश्चल रूप से निमग्न रहने वाले त्रिदण्डी होते हैं ।

हंस एवं परमहंस संन्यासों के अधिकारी तीव्रतर वैराग्यवान् पुरुष बतलाए गए हैं । तीव्रतर वैराग्यवान् योगी ब्रह्मलोक[1] का इच्छुक होने पर हंस नामक संन्यास ग्रहण करे, वह ब्रह्मलोक में आत्मसाक्षात्कार होने पर मुक्त हो जाता है । उक्त योगी यदि केवल मोक्ष का इच्छुक हो, तो वह परमहंस नामक संन्यास लेवे, उसको वर्तमान शरीर में ही आत्मसाक्षात्कार होता है।

पराशर-स्मृति के व्याख्यान (पराशर-माधव) में माधवाचार्य द्वारा इन सब संन्यासियों के सदाचार का निरूपण किया गया है । इस ग्रन्थ में केवल परमहंस का ही विवेचन किया गया है । परमहंस संन्यासी दो प्रकार के हैं :-

१. जिज्ञासु - जानने की इच्छावाला - ज्ञान का खोजकर्ता ।

२. ज्ञानी - ज्ञानवान् - जानने वाला ।

जिज्ञासु संन्यासी ज्ञानप्राप्ति के लिए परमहंस आश्रम धारण करे, ऐसा वाजसनेयि शाखा के अध्ययन करने वाले विद्वानों (ऋषियों) ने (बृहदारण्यक उपनिषद में)[2] कहा है । इसी श्रुति का अर्थ बालबुद्धि जनों के ज्ञान हेतु महामुनि श्री विद्यारण्य जी ने गद्य में कहा है ।

विविदिषासंन्यास - जिज्ञासु का संन्यास

लोक[3] दो प्रकार के हैं - आत्मलोक और अनात्मलोक । इन दोनों लोकों की विवेचना में लेखक ने उपनिषद् वचनों को उद्धृत किया है ।

अनात्मलोक ३ प्रकार का बतलाया गया है - 'मनुष्य लोक, पितृलोक और देवलोक । इनमें से मनुष्य लोक पुत्र द्वारा ही विजित किया जा सकता है, अन्य किसी कर्म द्वारा नहीं, पितृलोक कर्म (धार्मिक कर्तव्य) द्वारा ही जय किया जा सकता है और देवलोक विद्या (उपासना) द्वारा जय किया जा सकता है ।[4] आत्मलोक का वर्णन इस

---

१. सात लोकों में एक - भूः, भुवः स्वः, महः, जनः, तपः, और ब्रह्मलोक ।

२. "तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेनैतमेव विदित्वा मुनिर्भवति । एतमेव प्रव्राजिनो लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्ति ।" - (बृहं० उ०, ४/४/२२)
(उस उपनिषद् पुरुष (ब्रह्म) को नित्यस्वाध्याय के द्वारा ब्राह्मण जानने की इच्छा करते हैं । यज्ञ, दान एवं तप द्वारा इस (आत्मा) को ही जानकर मुनि (चिन्तक, विरक्त, योगी या संन्यासी) हो जाता है । प्रव्रजनशील इसको ही (आत्मस्वरूप स्व को ही) चाहते हुए सभी कर्मों से संन्यास ले लेते हैं ।)

३. 'लोक्यते, दृश्यते साक्षात्क्रियते इति लोकः । (लोकपद का अर्थ है - अनुभवगम्य, जो दिखाई दे।)

४. बृह० उ०, १/५/१६

प्रकार है – 'जो पुरुष इस लोक से अपने स्वरूपभूत स्वयंप्रकाश आत्मा को साक्षात्कार किये बिना मरता है, उसका अज्ञात आत्मा सुरक्षा नहीं करता । आत्मलोक की ही उपासना करनी चाहिए, जो आत्मलोक की उपासना करता है उसके कर्म नष्ट नहीं होते ।'[१]

ग्रन्थकार पर प्राचीन ऋषियों एवम् आचार्यों का प्रभाव स्पष्ट देखने को मिलता है । श्रुति – उपनिषद्[२] तो उनके परमउपजीव्य हैं ही, साथ ही रामायण, महाभारत, विविध पुराण[३] विविध स्मृतियां,[४] श्रीमद्भगवद्गीता, सूत्रग्रन्थ एवम् उनके भाष्य[५], वेदान्ताचार्यों की विविध कृतियाँ[६] तथा अन्य प्रसिद्ध आचार्यों की कुछेक महत्त्वपूर्ण रचनाएं[७] उनका उपजीव्य हैं और सम्पूर्ण ग्रन्थ में स्थान-स्थान पर अपने सिद्धान्तों एवं तर्कों की पुष्टि में लेखक ने उपरोक्त ग्रन्थों से उद्धरण प्रस्तुत किए हैं। इस प्रकार ग्रन्थकार की आधारभित्ति प्राचीन ऋषियों से लेकर पूर्वपरम्परा में आए हुए प्रमुख अद्वैताचार्य एवम् उनके ग्रन्थ तथा रामायण, महाभारत और श्रीमद्भागवत जैसे भारतीय धर्म, संस्कृति एवं दर्शन के महनीय ग्रन्थ हैं । श्री महेश्वर से अभिन्न गुरु-श्री विद्यातीर्थ की ग्रन्थारम्भ में की गयी वन्दना लेखक के ऊपर गुरु के प्रभाव एवम् उसकी गुरुभक्ति को प्रदर्शित करती है, यद्यपि ग्रन्थ में अन्यत्र कहीं भी गुरु का या उनकी किसी भी रचना का उल्लेख नहीं हुआ है । श्री विद्यातीर्थ के नाम से स्वतन्त्ररूप से भी किसी ग्रन्थ की उपलब्धि अब तक नहीं हुई है । फिर भी इतना तो कहा ही जा सकता है कि श्री विद्यारण्य पर उनके गुरुओं – श्री विद्यातीर्थ एवं श्री भारतीतीर्थ का असाधारण प्रभाव था और अपने विविधि ग्रन्थों में गुरुजनों के प्रति प्रदर्शित उनकी श्रद्धा एवं भक्ति, गुरुजनों के प्रबल प्रभाव का ही द्योतक है ।

इस सब के बावजूद भी, श्री विद्यारण्य की मौलिकता एवं पाण्डित्य में कोई संदेह नहीं किया जा सकता । ग्रन्थ में उद्धृत उद्धरण, लेखक के सम्बद्ध व्याख्यान

---

१. बृह० उ०, १/४/१५

२. बृहदारण्यक, छान्दोग्य, कठ, मुण्डक, माण्डूक्य, श्वेताश्वतर, जाबाल, परमहंस, आरुणी एवं वाजसनेयि उपनिषद् ।

३. श्रीमद्भागवत महापुराण एवं विष्णुपुराण ।

४. मनु, पराशर, यम, वशिष्ठ, विष्णु, दक्ष, शंख, अत्रि, आपस्तम्ब एवं बौधायनस्मृति ।

५. ब्रह्मसूत्र, शाङ्करभाष्य एवं योगसूत्र, व्यासभाष्य।

६. उपदेशसाहस्री, नैष्कर्म्यसिद्धि, माण्डूक्यकारिका, न्यायमकरन्द, पंचपादिका, - खण्डनखण्डखाद्य।

७. योगवासिष्ठ, सूतसंहिता, आर्यपंचाशी, कावषेयीगीता, लीलोपाख्यान, योगवार्तिक, मेधातिथि, श्रेयोमार्ग, वाक्यवृत्ति, परमार्थसार, चाणक्यनीति ।

के बिना सामान्य-रूपेण सार्थक (सिद्धप्रयोजन) नहीं हैं । विद्यारण्य जी स्वयं एक पहुँचे हुए संन्यासी थे और ग्रन्थ के सम्यक् दर्शन से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रतिभाशील संन्यासी की ही इस प्रकार की तकनीकी अन्वेषण एवम् अनुभव पर आधारित रचना हो सकती है। विद्यारण्य, संन्यास को मुक्ति की ज्या (परिमाप) मानते हैं और अपनी पुस्तक के प्रारम्भ तथा अन्त में इसी संन्यास का विविधप्रकार से विवेचन करते हैं।

मुक्ति का मार्ग, विद्यारण्य के अनुसार, एक शब्द में संकेत किया जाता है और वह है - संन्यास । यद्यपि यह संन्यास शब्द प्राचीन और नवीन लेखकों द्वारा विभिन्न अर्थों में प्रयुक्त हुआ है, विद्यारण्य इसे उसी शास्त्रानुसारी अर्थ में लेते हैं, जिसमें ऋषिगण (हिन्दू-मुमुक्षु) सिद्धान्तरूप से इसे लागू करते हैं । संसार से पूर्णरूपेण विरक्ति और सत्य-धर्म को धारण करना ही संन्सास है । संन्यासी इस संसार तथा अपने परिवार के लिए मृत हो चुका होता है । वह एक ही बार में सारे संसार को त्याग देता है और एकमात्र आत्मा के अतिरिक्त उसका किसी से कुछ लेन-देन नहीं रहता ।

संन्यास ब्रह्मचारी, गृहस्थ अथवा वानप्रस्थ सबके लिए समान रूप से खुला है। व्यक्ति चाहे तो सीधे ब्रह्मचर्यावस्था से, अन्यथा जैसा वह चाहे, संन्यास ले सकता है। संन्यासाश्रम में प्रवेश करने से पूर्व व्यक्ति को साधन चतुष्टय के गुणों से सम्पन्न बनना चाहिए। उसमें विवेकजनित पूर्णवैराग्य होना चाहिए । वैराग्य मृदु-मन्द अथवा उत्साहरहित नहीं होना चाहिए । मन्द वैराग्य वाले व्यक्ति का किसी भी संन्यास में अधिकार से निषेध किया गया है।

सच्चे संन्यासी में दृष्ट तथा अदृष्ट प्रत्येक पदार्थ के प्रति वैराग्य की धधकती ज्वाला होती है । कैवल्यावस्था ही - न कि अन्य कोई पदार्थ - उपलब्धि का आदर्श होता है। पत्नी, सन्तान तथा सांसारिक प्रवृत्तियों के लिए कोई कामना नहीं होती है । वह चतुर्दिक वैराग्य से आवृत होता है ।

संन्यासी को आत्मरूप लोक की उपासना करनी चाहिए । आत्मलोक का ज्ञान ("मैं ब्रह्म हूँ" ऐसी अनुभूति) उसे अविद्या के अन्धकार से बाहर करता है । उपासक (आत्मानुरागी) का कर्म कभी विनष्ट नहीं होता, वरन् कामना के सर्वोत्कृष्ट या पुंजीभूत फल रूप मोक्ष (आत्मसाक्षात्कार) को प्राप्त कराता है ।[1]

१. "उपासकस्य ह निश्चितं कर्म न क्षीयते, कामितसर्वफलं मोक्षं च ददाति ।" - (जी०मु०वि०, पृ०५)

आत्मरूप सर्वोच्च फल की प्राप्ति करने वाले व्यक्ति के लिए पुत्र, कर्म (यज्ञ या उपासना) एवम् अध्ययन का कुछ भी महत्त्व नहीं है । प्रजाओं का स्वामी मृत्यु को प्राप्त करता है और जो प्रजा का स्वामी न हुआ वह अमृतत्त्व को प्राप्त करता है । इस संदर्भ में आपस्तम्ब धर्मसूत्र का वचन द्रष्टव्य है ।[1]

'एतमेव'[2] (यह लोक) इत्यादि श्रुति में आत्मलोक विवक्षित है, जिसकी प्राप्ति हेतु संन्यासी-संन्यास (वैराग्य) ग्रहण करते हैं। इस श्रुति का तात्पर्य लेखक इस प्रकार देता है कि 'आत्मानुभव की इच्छा करने वाला पुरुष संन्यास ग्रहण करता है।'[3] ब्रह्मसाक्षात्काररूप लाभ के लिए ही परमहंससंन्यास ग्रहण किया जाता है । इसलिए परमहंससंन्यासी को शमदमादि[4] साधनों से युक्त होना चाहिए।

इस जन्म में या जन्मान्तर में यथाविधि आचरण के साथ वेद अध्ययन आदि[5] शुभ, नित्य कर्म द्वारा उत्पन्न हुई विविदिषा (जिज्ञासा) से सम्पादित होने के कारण इस संन्यास का नाम विविदिषासंन्यास (जिज्ञासु का संन्यास) है । यह विविदिषा-संन्यास ज्ञान का हेतु है । इसके दो प्रकार बतलाए गए हैं -

१- जन्मसम्पादक केवल काम्यकर्मादि का त्यागरूप ।

२- प्रैष मंत्र[6] के उच्चारणपूर्वक दण्डधारण आदि आश्रमचिह्न युक्त ।

---

१. "अष्टाशीति सहस्राणि ये प्रजामीषिर ऋषयः ।
दक्षिणेनार्यम्णः पन्थानं ते श्मशानि भेजिरे ।।
अष्टाशीति सहस्राणि ये प्रजां नेषिर ऋषयः ।
उत्तरेणार्यम्णः पन्थानं तेऽमृतत्वं भेजिरे ।।" - (आप०ध०सू०, प्र०२, ख० २२)

२. 'एतमेव प्रव्राजिनो लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्ति ।' - (बृ०उ०, ४/४२२)

३. 'आत्मानुभवमिच्छन्तः प्रव्रजन्तीति श्रुतेस्तात्पर्यार्थः ।' - (जी०मु०वि०, पृ०७)

४. चित्तशांति, शरीरनिग्रह, कर्मपरित्याग, द्वन्द्व-सहिष्णुता, समाधि एवं श्रद्धा ।
(द्रष्टव्य - वेदान्तसार - 'अधिकारिनिरूपणम्' एवम् उपदेशसाहस्री, १६/७२) ।

५. आदि शब्द द्वारा धार्मिक कर्तव्यों की पूर्ति, आत्मसंयम और वेदविहित इसी प्रकार की कुछ आज्ञाएं (विधियाँ) कही गई हैं ।

६. प्रैष मंत्र का उच्चारण एक नियम है । इसका अर्थ है -
"मै भूः, भुवः एवं स्वः लोक से संन्यास लेता हूँ ।"
इन शब्दों में संन्यासी अपने को इस लोक या इससे आगे के लोकों से सम्बन्धित सभी प्रकार की इच्छाओं एवं सभी प्रकार की स्थितियों (दशाओं) से मुक्त घोषित करता है ।

केवल प्रैषोच्चारणपूर्वक ग्रहण किये गये विविदिषासंन्यास से, संन्यासी की माता और पत्नी पुरुष योनि को प्राप्त होती है एवं स्वयं भी वह ब्रह्मनिष्ठ सुशील और ज्ञानवान् (आत्मज्ञानी) होता है।'[1] पुनर्जन्मप्रदायक काम्यकर्मादि के त्यागरूप विविदषासंन्यास का कैवल्योपनिषद् द्वारा प्रतिपादन किया गया है कि कर्म, प्रजा एवं धन द्वारा नहीं, अपितु केवल त्याग द्वारा मुक्ति प्राप्त होती है।'[2]

विद्यारण्य यहाँ यह सिद्धान्त प्रस्तुत करते हैं कि 'काम्य कर्म के त्याग रूप संन्यास में स्त्रियाँ भी अधिकारी हैं ।'[3]

अपने कथन की पुष्टि में वे मोक्षधर्म अर्थात् महाभारत[4], शाङ्करभाष्य[5] एवं बृहदारण्यक उपनिषद्[6] के वाक्यों को प्रमाणरूप में उद्धृत करते हैं । इनमें गार्गी वाचक्नवी एवं मैत्रेयी इत्यादि ब्रह्मवादिनी स्त्रियों को संन्यास में अधिकृत बताया गया है।

लेखक संन्यासविधि को अत्यन्त सरल रूप में भी प्रस्तुत करते हुए कहता है कि सांसारिक प्राणी संन्यासाश्रम ग्रहण करने में यदि किसी निमित्त से बलवान् अवरोधक देखें तो अपने-अपने आश्रमोचित धर्मों का पालन करते हुए भी मानससंन्यास का सेवन कर तत्त्वज्ञान प्राप्त करें । इसमें कोई विरोध नहीं है । इस प्रकार के तत्त्वज्ञान के बहुत से दृष्टान्त वेद, स्मृति, पुराण, इतिहास एवं इस संसार में पाये जाते हैं ।

विद्वत्संन्यास - विद्वान् का संन्यास

ग्रन्थकार ने विद्वत्संन्यास को इस प्रकार लक्षित किया है -

यथाविधि श्रवण, मनन, निदिध्यासन का अनुष्ठानकर, तत्त्वसाक्षात्कार करने वाला पुरुष विद्वत्संन्यास धारण करता है।'[7] योगिवर श्री याज्ञवल्क्य के वर्णन से उन्हें

---

१. "पुंजन्म लभते माता पत्नी च प्रैषमात्रतः ।
ब्रह्मनिष्ठः सुशीलश्च ज्ञानं चैतत्प्रभावतः ।" - (जी०मु०वि०,पृ० ८) ।

२. "न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः ।" - (कै०उ०, ३) ।

३. "अस्मिंश्च त्यागे स्त्रियोऽप्यधिक्रियन्ते ।" - (जी०मु०वि०, पृ० ८) ।

४. महाभारत, चतुर्धरी टीका, टीकाकार-नीलकण्ठ । द्रष्टव्य- 'सुलभाजनकसंवाद' ।

५. ब्र०सू०शा०भा०, ३/४/३६-३८।

६. बृह० उ०, ४/५/४

७. 'सम्यगनुष्ठितैः श्रवणमनननिदिध्यासनैः परं तत्वं विदितवद्भिः
सम्पाद्यमानो विद्वत्संन्यासः ।' - (ग्रन्थ पृ० १०-११)

विद्वत्संन्यासी के रूप में प्रस्तुत किया गया है । बृहदारण्यक[1] से कई उद्धरण प्रस्तुत करते हुए यह सिद्ध किया गया है कि संन्यास ही मोक्ष का साधन है ।

आत्मसाक्षात्कार करने वाले पुरुष सांसारिक इच्छा (आसक्ति या वासना) से अलग होकर भिक्षाटन करते हैं अर्थात् संन्यासाश्रम को धारण करते हैं ।

ग्रन्थ में खण्डन, मण्डन के अवसर प्रायः कम हैं । सामान्यरूप से बड़े ही सरल ढंग से अपनी बात को ग्रन्थकार सप्रमाण प्रस्तुत करता है । फिर भी अपने कथनों को अधिकाधिक सुस्पष्ट करने के दृष्टिकोण से ग्रन्थकार ने स्वयं जगह-जगह पूर्वपक्ष के रूप में शंकाओं को प्रकट किया है और उनका विधिवत् खण्डनकर अपने सिद्धान्तों को परिपुष्ट रूप में प्रस्तुत किया है । ग्रन्थकार पूर्णरूपेण अद्वैतमत का समर्थक है और इस नाते ब्रह्मात्मैक्य के सिद्धान्त की स्थापना हेतु ही ग्रन्थ में कई स्थानों पर अनेक उपसिद्धान्तों को भी उसी परमसिद्धान्त की प्रतिष्ठा हेतु प्रस्तुत किया गया है । आत्मा का परमात्मा से मिलन और वह भी इसी जीवन में, इस विषय की मधुरतम कल्पना को ही ग्रन्थ में साकार रूप दिया गया है । अपने सुष्ठु प्रयास में ग्रन्थकार ने सम्पूर्ण विषय का जिस रूप में प्रस्तुतीकरण किया है, वह विषयगत विवेचन की दृष्टि से अत्यन्त सटीक है ।

विद्यारण्य जी स्पष्ट करते हैं कि आत्मतत्त्वदर्शी ब्रह्मवित् पुरुष ही विद्वत्संन्यास धारण करता है, अतः यह शंका नहीं होनी चाहिए कि जिज्ञासु भी यह संन्यास धारण कर सकता है । जिज्ञासु के लिए विविदिषासंन्यास का निर्देश है और इस विद्वत्संन्यास से उस विविदिषासंन्यास का यही प्रमुख भेद है कि जिनकी जिज्ञासा (ज्ञान प्राप्ति की इच्छा) पूर्ण हो गई है अर्थात् जो परमात्मतत्त्व का साक्षात्कार करने वाले हैं, वे ही विद्वत्संन्यास के अधिकारी हैं, इतर नहीं ।

श्रवणादि के अनन्तर आत्मसाक्षात्कार (आत्मानुभूति) करने वाला ब्राह्मण (ब्रह्मवित्) ही विद्वत्संन्यास ग्रहण करता है ।

श्रुति में भी यही कहा गया है कि इस आत्मा को जानकर ही मुनि होता है ।'[2] इस वाक्य में मुनि शब्द का अर्थ मननशील है ।

---

१. द्रष्टव्य - (बृह०उ०, ४/५/१-२)
(बृह०उ०, ४/५/१५ एवं ३/५/१)

२. "एतमेव विदित्वा मुनिर्भवति ।" - (बृह०उ०, ४/४/२२) ।

परन्तु मननशीलत्व जब तक कर्तव्यशेष होता है तब तक मुनि नहीं हो सकता अर्थात् मुनि शब्द से संन्यास ही सूचित होता है ।

मन के एकनिष्ठ हो जाने पर, सारे विकार (अनादर निन्दा आदि के भाव) दूर हो जाते हैं । स्वयंप्रकाश आत्मा को जानकर पुरुष मौन या शांति में बदल जाते हैं।

शङ्का – उपरोक्त श्रुति (बृह०, ४/४/२२) में मुनित्व की प्राप्ति रूप फल का लोभ बताकर, विविदिषासंन्यास का ही वर्णन किया गया है । इसलिए विविदिषासंन्यास से भिन्न अन्य संन्यास की कल्पना करना सम्भव नहीं ।

समाधान – 'विदित्वा मुनिर्भवति' ऐसे कथन से वेदन – ज्ञान की साधनरूपता तथा मुनित्व की फलरूपता प्रतीत होती है। अतएव विविदिषासंन्यास द्वारा प्राप्त हुए ज्ञानरूप फल के मिलने पर विद्वत्संन्यास द्वारा मुनित्व रूप फल मिलता है ।

शङ्का – मुनित्व, ज्ञान के ही परिपाक विशेष से प्राप्त हुई एक प्रकार की अवस्था है । अतएव ज्ञान द्वारा विविदिषासंन्यास का ही मुनित्व फल है, विद्वत्संन्यास का फल नहीं ।

समाधान – यह बात ठीक है । इसलिए हम साधनरूप संन्यास से भिन्न फलरूप संन्यास का कथन करते हैं । जैसे विविदिषासंन्यासी को ज्ञान के लिए श्रवण, मनन, निदिध्यासन सम्पादन करना चाहिए उसी प्रकार विद्वत्संन्यासी को भी जीवन्मुक्तिरूप उत्कृष्ट फल के निमित्त वासनाक्षय और मनोनाश सम्पादन करना चाहिए । अतः वासनाक्षय और मनोनाश (जिनका कि अगले पृष्ठों पर वर्णन है) विद्वत्संन्यास के परम हेतु (साधन) हैं और परम्परा से प्राप्त (विविदिषासंन्यासजन्य) तत्त्वज्ञान भी उसका साधन है।

शङ्का – जो विद्वत्संन्यास नाम का एक अलग संन्यास होता तो स्मृति में कुटीचक, बहूदक, हंस एवं परमहंस इन चार प्रकार के भिक्षुकों के गिनने के बदले पाँच प्रकार के गिने जाते ।

समाधान – विविदिषासंन्यास एवं विद्वत्संन्यास में परस्पर अवान्तर विलक्षणता होने पर भी परमहंस संन्यास में दोनों का समावेश है । इसीलिए स्मृतियों में भिक्षुकों की चार ही संख्या बताई गयी है । दोनों संन्यासों का परमहंस होना जाबाल उपनिषद् की ही श्रुति से जाना जाता है ।

जाबाल उपनिषद् में राजा जनक के संन्यास सम्बन्धी प्रश्न करने पर श्री याज्ञवल्क्य मुनि ने संन्यासाश्रम का विधानकर उत्तरकाल में साधने योग्य कर्तव्यसहित

विविदिषासंन्यास का कथन किया, इसको सुनकर भगवान् अत्रि मुनि बोले कि 'यज्ञोपवीत'[1] के त्याग करने से ब्राह्मणत्व नष्ट होगा और ऐसा करने पर उपनिषद् के विचार में अधिकार भी नहीं रहता ।'

इसके उत्तर में महामुनि श्री योगिवर्य ने समाधान किया कि 'आत्मज्ञान ही उनको (संन्यासियों को) यज्ञोपवीत है ।'[2]

अतः बाह्य उपवीत के अभाव से विविदिषासंन्यासियों का परमहंस होना निश्चित होता है।[3]

इसी प्रकार विद्वत्संन्यास का वर्णन भी 'परमहंस नाम' से लेकर सम्बर्तकादिक अनेक ब्रह्मवित् जीवन्मुक्तों का नाम लेकर इस प्रकार किया है – 'ये सब, जिनका आश्रमादि ज्ञापक कोई चिह्न नहीं दीखता, गुप्त आचारण वाले, उन्मत्त न होते हुए भी उन्मत्त का सा व्यवहार करने वाले हैं ।'

आगे त्रिदण्डी संन्यासी द्वारा एकदण्ड धारणरूप विविदिषासंन्यास का विधानकर उसके फलरूपी विद्वत्संन्यास का भी उदाहरण दिया है । 'वह 'भूः स्वाहाः' (यह सब भूलोक को समर्पित) कहकर त्रिदण्ड, जलपात्र, छीका, पवित्र वस्त्र, चोटी और यज्ञोपवीत-इन सबको जल मे छोड़ और आत्मसंशोधन करे।'[4]

'परमहंस, जैसा पैदा हुआ था उसी स्थिति को धारण करता हुआ अर्थात् पूर्ण स्वतन्त्र, सुख-दुःखादि के संसर्ग से रहित, संग्रहरहित, ब्रह्ममार्ग में यथार्थनिष्ठा प्राप्तकर शुद्धमनवाला, प्राणरक्षार्थ योग्य समय में आसन से उठकर उदरपात्र द्वारा भिक्षा करता हुआ, प्राप्ति या अप्राप्ति में समान, शून्य घर में, देव मन्दिर में, फूस के टाल में, बाल्मीकि में, पेड़ों की आड़ में, कुम्हार के आवा में, अग्निहोत्र गृह में, नदी के तट पर, पर्वत की कन्दरा में, वृक्ष के कोटर में, झरने के पास, यज्ञस्थण्डिल (चबूतरा या वेदी) या जहाँ कोई न रहता हो, वहाँ प्रयत्नरहित, स्वार्थविहीन, शुद्ध परमात्मा के ६

---

१. ब्राह्मण (ब्रह्मतत्त्वनिष्ठ) द्वारा धारण किया जाने वाला पवित्र धागा (सूत्र) । यह वेद के एक निश्चित दीक्षासंस्कार का सूचक होता है जो कि पूर्वजों द्वारा स्वीकृत था । यज्ञोपवीत को वह तब त्यागता है जब वह 'सम्पूर्ण' की खोज में संन्यास को ग्रहण करता है ।

२. 'आत्मज्ञानमेव यज्ञोपवीतम् ।' - ग्रन्थ, पृ० १७ ।

३. 'अतो बाह्योपवीताभावात् परमहंसत्वं निश्चीयते ।' - वही ।

४. जाबा० उ०, ६/१-२ ।

यान् में तत्पर, आत्मनिष्ठा वाला, शुभाशुभ कर्म के उच्छेद करने में तत्पर पुरुष संन्यास द्वारा शरीर त्याग करता है ।[1]

इस प्रकार दोनों आश्रमों का परमहंस होना सिद्ध है। परमहंसत्वरूप धर्म द्वारा दोनों समान हैं परन्तु परस्पर अन्य विरुद्ध धर्म होने से उनमें अवान्तर भेद स्वीकार्य है। आरुणि उपनिषद् एवं परमहंसोपानिषद् की आलोचना से इनके विरुद्ध धर्म का ज्ञान होता है।

आरुणि उपनिषद्[2] में विविदषासंन्यास का इस प्रकार वर्णन है – 'हे भगवान्! मैं किस प्रकार सब कर्मों का त्याग करूँ ? इस प्रकार शिष्य आरुणि के स्वाध्याय, गायत्री जपादिक सब कर्मों का त्यागरूप विविदिषासंन्यास विषयक प्रश्न करने पर गुरु प्रजापति ने 'शिखां यज्ञोपवीतं'[3] इत्यादि पूर्वोक्त वचन द्वारा सब का त्याग कहा और 'दण्डमाच्छादनं कौपीनं' – दण्ड, आच्छादन और कौपीन धारण करे, इस प्रकार दण्डादिग्रहण करने का विधान किया एवं 'त्रिसंध्यादौ'[4] इत्यादि प्रातः मध्याह्न एवं सायंकाल में स्नान करे, सन्धिकाल में आत्मा का अनुसन्धान करे, सब वेदों में आरण्यक और उपनिषद् का पाठ करे ।' इस प्रकार ज्ञान के हेतु रूप आश्रमधर्मों का (विविदिषासंन्यास का) कर्तव्यरूप से विधान किया है।

जाबाल उपनिषद् में विद्वत्संन्यास का निरूपण –

नारद का विद्वत्संन्यास सम्बन्धी प्रश्न – 'परमहसं योगी का कौन सा मार्ग है?' गुरु प्रजापति का उत्तर – 'स्वपुत्रमित्र' आदि वक्ष्यमाण वाक्य द्वारा सबका त्याग कहकर 'कौपीन दण्डमाच्छादनं' – कौपीन, दण्ड और आच्छादन को अपने शरीर निर्वाह के लिए और लोगों के कल्याण के लिए ग्रहण करे – यह कहा है।

ग्रन्थकार यहाँ इस आशंका से कि कहीं कोई दण्डादि धारण को मुख्य कर्तव्य

१. जाबा० उ०, ६/३ ।

२. आरु० उ०, २।

३. जाबा० उ०, ६/१-२ ।

४. जहाँ पर दो काल मिलते हैं, वह संध्याकाल कहलाता है । दिन एवं रात्रि के मध्य प्रातः एवं सायं इस प्रकार के दो प्रसिद्ध संध्याकाल हैं ।

तीन संध्याएं आध्यात्मिक जीवन से सम्बन्धित हैं – सूर्य से चन्द्र की ओर (दाहिने से बायें) एवं चन्द्र से सूर्य की ओर – इन दोनों के बीच श्वांस परिवर्तन के काल को सुषुम्ना कहते हैं, यही संध्या कहा जाता है और यह काल एक सिद्ध योगी के संदर्भ में दिन में तीन बार आता है ।

न समझे, स्पष्ट करता है कि दण्डादि को धारण करना, कोई शास्त्रीय मुख्य कर्तव्य नहीं है, अपितु लौकिकव्यवहार है ।

विद्वत्संन्यास का मुख्य धर्म क्या है ? ऐसा प्रश्न होने पर उत्तर दिया गया है कि परमहंस समस्त उपकरणों एवं नित्य कर्मों का भी परित्याग कर देता है।[1] इस प्रकार दण्डादि चिह्न का अभाव शास्त्रोक्त है । इस योगी को शीतोष्णादि द्वन्द्व बाधा नहीं करते हैं, वह दिशारूपी वस्त्र धारण करता है और किसी की स्तुति नमस्कार नहीं करता । इस प्रकार लोकों में उसकी विलक्षणता बतलायी गई है । 'जो पूर्ण, आनन्दघन और बोध रूप है, वह ब्रह्म मैं हूँ,'[2] ऐसे ज्ञान द्वारा कृतकृत्य जीवन्मुक्त योगी का पर्यवसान ब्रह्मानुभव में ही होता है ।

विद्यारण्य जी अपनी बात के समर्थन में अधिकाधिक प्रमाण प्रस्तुत करने के अभ्यस्त हैं । किसी विषय में वे जहाँ तक दौड़ लगा सकते हैं, चूकते नहीं । इसीलिए ग्रन्थ में विविध स्थानों पर अपने कथन की पुष्टि में ग्रन्थकार ने प्रायः सभी सम्बद्ध उद्धरणों को प्रस्तुत करने की चेष्टा की है और इसीलिए विविध ग्रन्थों के वाक्य एवं विद्यारण्य के वचन आपस में इस प्रकार सम्मिलित हो गये हैं कि ध्यान से देखने पर ही उन्हें विविक्त किया जा सकता है ।

विविदिषा एवं विद्वत्संन्यासों में परस्पर विरुद्ध धर्म होने से अवान्तर विलक्षणता के कारण दोनों में भेद दिखाया गया है । इस भेद की सिद्धि हेतु प्रमाणरूप में ग्रन्थकार परमहंसोपनिषद् एवं जाबालोपनिषद् के वाक्यों को उद्धृत कर चुका है। और अधिक स्पष्टीकरण हेतु बृहस्पतिस्मृति[3], उपदेशसाहस्री[4], मुण्डकोपनिषद्[5] एवं गीतावाक्यों[6] को भी प्रस्तुत किया गया है।

बृहस्पतिस्मृति में कहा गया है कि 'संसार को साररहित अनुभवकर सार वस्तु (परमात्मा) के दर्शन की इच्छा से गृहस्थाश्रम[7] में प्रवेश करने के पहले ही परमवैराग्यवान्

---

१. "न दण्डं न शिखां न यज्ञोपवीतं न चाच्छादनं न भैक्षं चरति परमहंसः ।" - (महोपनिषद्)

२. परम०उ०,४ ।

३. (बृह० स्मृ०, पृ० ३०५) ।

४. (उप०, ४/५) ।

५. (मु०उ०, २/२/८) ।

६. (भ०गी०, १८/१७) ।

७. सामान्यतः संन्यास (चतुर्थाश्रम) पूर्वाश्रमों की समाप्ति के बाद ग्राह्य है । यहाँ पर उल्लेख्य है कि वैराग्य के निश्चित हो जाने पर कभी भी संन्यास ग्राह्य है, विवाह के पूर्व या इच्छानुसार ।

अधिकारी पुरुष संन्यास ग्रहण करता है । संन्यास ज्ञान का साधन है, अतएव ज्ञान सम्पादन हेतु बुद्धिमान् पुरुष इस संसार से (विविदिषा) संन्यास ग्रहण करे ।' 'परब्रह्म का सम्यक् ज्ञान प्राप्त कर लेने पर, सब कुछ त्यागकर परिव्राजक होवे अर्थात् विद्वत्संन्यास ग्रहण करे।'

शङ्का – जिज्ञासा, जिसे कि विविदिषा संन्यास का हेतु कहा गया है, वह तो सामान्य लोगों में भी सामान्यतः प्राप्त होती है इसी प्रकार विद्वत्ता, जिसे कि विद्वत्संन्यास का हेतु कहा गया है, वह भी लोक में सामान्यतोदृष्ट है क्योंकि अल्पज्ञ भी अपने को पण्डित मानता है, तब फिर उक्त दोनों संन्यासों की हेतुभूता जिज्ञासा एवं विद्वत्ता किस प्रकार की है ?

समाधान – जिज्ञासा से, कर्मों में अत्यन्त अरुचि एवं ज्ञानसाधन श्रवणादि में अत्यन्त शीघ्रता का भाव ग्राह्य है । अस्तु तीव्रतर जिज्ञासा की अपेक्षा है । विद्वत्ता से यहाँ आत्मस्वरूप के ज्ञान से तात्पर्य है ।

शङ्का – विविदिषासंन्यास के फलरूप तत्त्वज्ञान से ही आगामी जन्म का निवारण हो जाता है एवं वर्तमान जन्म के अवशिष्ट कर्मों का भोग किए बिना नाश नहीं होता, तब इस विद्वत्संन्यास के निमित्त परिश्रम क्यों किया जाए ?

विद्यारण्य जी सम्यक् समाधान प्रस्तुत करते हैं – विद्वत्संन्यास का विशेष प्रयोजन है । विद्वत्संन्यास जीवन्मुक्तिरूप बड़े फल के लिए है । जैसे ज्ञान प्राप्ति हेतु विविदिषासंन्यास ग्राह्य है उसी प्रकार जीवन्मुक्ति के लिए विद्वत्संन्यास सम्पादनीय है।'

जीवन्मुक्तिस्वरूप –

ग्रन्थकार ने जीवन्मुक्तिप्रमाणप्रकरणम् नामक प्रथम अध्याय को सुविधा एवं क्रम की दृष्टि से इन ५ उपप्रकरणों किंवा शीर्षकों के अन्तर्गत रखा है –

१. विविदिषासंन्यास

२. विद्वत्संन्यास

३. जीवन्मुक्ति स्वरूप

४. जीवन्मुक्त लक्षण

५. विदेहमुक्त लक्षण

१. "विद्वत्संन्यासस्य जीवन्मुक्तिहेतुत्वात् जीवन्मुक्तये विद्वत्संन्यासः सम्पादनीयः ।" – (ग्रन्थः पृ० २७)

इनमें से प्रथम दो को प्रस्तुत किया जा चुका है । प्रकृत तृतीय उपप्रकरण के अन्तर्गत चार प्रश्नों को प्रस्तुत किया गया है -

१. जीवन्मुक्ति क्या है ? - स्वरूप

२. इसमें प्रमाण क्या हैं ? - प्रमाण

३. उसकी प्राप्ति कैसे होती है ? - साधन

४. जीवन्मुक्ति का लाभ क्या है ? - प्रयोजन

इनमें से प्रथम दो प्रश्नों का उत्तर इस प्रकरण में दिया गया है । द्वितीय एवं तृतीय अध्यायों में जीवन्मुक्ति के साधन क्रमशः वासनाक्षय एवं मनोनाश का वर्णन है। चतुर्थ अध्याय में चौथे प्रश्न जीवन्मुक्ति प्रयोजन का विवेचन किया गया है।

सर्वप्रथम प्रथम प्रश्न का उत्तर देते हुए जीवन्मुक्ति के स्वरूप को बताया गया है - जीवित पुरुष को कर्तापन, भोक्तापन, सुख, दुःखादि अन्तःकरण का धर्म क्लेशों का उत्पादक होने से बन्धनरूप होता है, इस क्लेशरूप चित्त के धर्म का जो निवारण है, उसे जीवन्मुक्ति कहते हैं।[1]

बन्धन आत्मा के स्वाभाविक स्वरूप के बाधक हैं, इसी जीवन में इन बन्धनों की निवृत्ति एवम् आत्मप्रतिष्ठा ही जीवन्मुक्ति है ।

शङ्का - अग्नि से ऊष्णत्व निवारण की भाँति, चित्त से उसके स्वाभाविक धर्म कर्तापन, भोक्तापन, सुख, दुःख आदि का निवारण नहीं हो सकता । अतः मन से बन्धन का निवारण सम्भव नहीं है ।

समाधान - स्वाभाविक धर्म का निःशेषता से नाश न होने पर भी उसका अभिभव सम्भव है । अतः मनोधर्म का तिरोभाव होता है । जैसे अग्नि की ऊष्णता को मणि (चन्द्रकान्त), मन्त्र, औषधि द्वारा रोक सकते हैं, इसी प्रकार योगाभ्यास से चित्त की सारी वृत्तियों का निरोध किया जाता है ।[2]

शङ्का - योगाभ्यास द्वारा चित्तवृत्तियों का निरोध सम्भव नहीं है क्योंकि प्रारब्ध कर्म का फलरूप सुख दुःख आदि का भोग चित्तवृत्तियों के बिना सम्भव नहीं है ।

---

१. "जीवतः पुरुषस्य कर्तृत्वभोक्तृत्वसुखदुःखादिलक्षणचित्तधर्मः क्लेशरूपत्वाद्बन्धो भवति, तस्य निवारणं जीवन्मुक्तिः ।" - (ग्रन्थ, पृ० २७)

२. द्रष्टव्य - (यो०सू० १/२, ३ एवं १२)

समाधान – वृत्तियों के निरोध द्वारा साधने योग्य जीवन्मुक्ति के भी, उत्तम प्रकार के सुख होने से अन्य सुखों के साथ इस सुख का प्रारब्ध कर्म के फल में ही अन्तर्भाव है ।

शङ्का – प्रारब्धकर्म,योग्य समय में जीवन्मुक्ति रूप सुख को स्वयं देगा, फिर उसके निमित्त पुरुष प्रयत्न की क्या आवश्यकता ?

समाधान – यदि पुरुष प्रयत्न की कोई आवश्यकता न हो तब तो फसल हेतु कृषक को एवं सम्पत्ति हेतु व्यापारी को कर्म करना भी व्यर्थ होंगे, क्योंकि फसल एवं सम्पत्ति आदि प्रारब्धवश स्वयं प्राप्त होंगे ।

यहाँ पूर्वपक्षी के रूप में प्रारब्धवादी तर्क प्रस्तुत करता है कि कर्म स्वयं अदृष्ट होने से, दृष्ट-प्रत्यक्ष साधनसम्पत्ति के बिना फल देने में असमर्थ है ।

उत्तरपक्ष – तब जीवन्मुक्ति के लिए प्रयास करना भी सप्रयोजन है। कर्म, दृष्ट सामग्री-पुरुष प्रयत्न किंवा साधना की अपेक्षा से ही सिद्ध होता है । जीवन्मुक्ति सुख का हेतु श्रेष्ठ प्रारब्ध, योगाभ्यास रूप पुरुषार्थ (पुरुष प्रयत्न) निष्फल बिल्कुल नहीं है।

योगाभ्यास, प्रारब्धकर्म से अधिक बलवान् है । इसीलिए उद्दालक, बीतहव्यादिक योगी महात्माओं ने अपनी इच्छानुसार देहत्याग किया ।

कामादिक चित्तवृत्तिनिरोध रूप योगसाधन[1] सरल ही है ।

शास्त्रीय कर्म, प्रारब्ध कर्म से अधिक बलवान है, ऐसा न मानने से वैद्यकशास्त्र से लेकर मोक्षशास्त्र तक, लौकिक अलौकिक सुखों की प्राप्ति के साधनों के प्रतिपादन करने वाले सब ही शास्त्र व्यर्थ हो जायेंगे।

शङ्का – किए गए पुरुषप्रयत्न निष्फल भी होते देखे गये है, अतः पुरुषार्थ दुर्बलतारूप दोष से युक्त है ।

समाधान – एक बार पुरुषार्थ के फलीभूत न होने से सम्पूर्ण पुरुषार्थ पद पर दुर्बलतारूप दोष आरोपित करना विवेक-दृष्टि नहीं है । यहाँ एक दृष्टान्त द्वारा लेखक ने अपनी बात को प्रमाणित किया है कि लोक में भी देखा जाता है कि युद्ध में पराजित राजा, अपनी सैन्य आदि युद्ध सामग्रियों को छोड़ता नहीं, अपितु पुनः और अधिक

१. दो प्रकार के योग कहे गये हैं – हठयोग और राजयोग । प्राणायाम, प्रत्याहार आदि हठयोग की क्रियाएं हैं, इनमें देर से सिद्धि मिलती है । सभी में समभाव रखना मृदुयोग (राजयोग) है, इसमें सरलता से सिद्धि मिलती है ।

सचेष्ट होकर विजय प्रयास करता है।

अपने कथन की अधिकतम और अधिकतर प्रामाणिकता के लिए (प्रारब्ध कर्म से शास्त्रीय प्रयत्न का प्राबल्य सिद्ध करने के लिए) ग्रन्थकार ने आनन्दबोधाचार्यकृत न्यायमकरन्द एवं वशिष्ठकृत योगवासिष्ठ से उद्धरण प्रस्तुत किए हैं।[1] श्री वशिष्ठ और श्रीराम के सम्बाद[2] के माध्यम से शास्त्रीय प्रयत्न की प्रबलता का विविधप्रकार से उल्लेख किया गया है। विद्यारण्य के व्याख्यान ने सम्बादगत तथ्यों को और अधिक स्पष्ट कर दिया है । उनका मत है कि शास्त्रानुकूल आचरित पुत्रकामेष्टि, कृषि, वाणिज्य, ज्योतिष्टोम, ब्रह्मोपासना आदि पुरुषार्थ द्वारा पुत्र, धन, स्वर्ग, मोक्ष आदि सब ही फलों को प्राप्त किया जा सकता है ।[3] शास्त्रविहित पुरुषार्थ परमार्थ[4] (मोक्ष) प्रदायक होते हैं। श्रवण (अध्ययन) एवं सत्संगति को पुरुषार्थसाधन के रूप में उल्लिखित किया गया है। अपने प्रयत्न द्वारा मन, वाणी एवं शरीरकृत पौरुष से ही मोक्ष रूप श्रेय प्राप्त होता है।

वासना[5] के स्वरूप को बताते हुए यह कहा गया है कि शुभ-अशुभ इन दो रूपों वाली वासना ही प्राणी को कार्यों में नियोजित करती है । पुरुष का कर्तव्य है कि वह अशुभवासनारूप अधर्माचारण को त्यागकर, शास्त्रीयप्रयत्न द्वारा सद्धर्माचरण करे।[6] अशुभवासना स्वयं प्रयत्न (पुरुषार्थ) से निवार्य है । चित्त की उपमा चंचल शिशु से दी गयी है । विषयरत (अशुभाचरणरत) उस चित्त (मन) को प्रबल पुरुष प्रयत्न द्वारा शुभ मार्ग में लगाना चाहिए । चित्त को सत्संग द्वारा दुःसंग से रोककर विपरीत आचरणों से बचा सकते हैं।

चित्तनिग्रह के २ प्रकार के उपाय हैं -

१. मृदु उपाय - समभाव रखना - इस समताभाव रूप मानसिक उपाय से उत्तमकोटिक चित्त की स्थिरता शीघ्र ही प्राप्त होती है ।

---

१. द्रष्टव्य - जी०मु०वि०, पृ० ३३-४०।

२. द्रष्टव्य - ल०वा०, अ०४०, "मुमुक्षुव्यवहार प्रकरण ।"

३. 'सर्वं पुत्रवित्तस्वर्गलोकब्रह्मलोकादिफलं, पौरुषं पुत्रकामेष्टिकृषिवाणिज्यज्योतिष्टोमब्रह्मोपासनालक्षणः पुरुषप्रयत्नः ।' - (ग्रन्थ, पृ० ३४)

४. 'अर्थेषु स्वर्गादिषु परमो मोक्षः परमार्थः ।' -(ग्रन्थ, पृ० ३४)

५. 'वासना धर्माधर्मरूपा जीवगतसंस्काराः ।' - (ग्रन्थ, पृ० ३५)

६. "शुभाशुभाभ्यां मार्गाभ्यां वहन्ती वासनासरित् ।
पौरुषेण प्रयत्नेन योजनीया शुभे पथि ।" - (ल०वा०, ४/६)

२. हठ योग – प्राणायम, प्रत्याहार आदि अपेक्षाकृत कठिन भौतिक उपाय बहुत समय में प्रभावकारी होते हैं ।

ग्रन्थकार का मत है कि निरन्तर बोधपर्यन्त शुभवासना का अभ्यास करना चाहिए। आत्मसाक्षात्कार होने पर सभी वृत्तियों के निरोध के अभ्यास में प्रवृत्त होकर शुभवासना को भी त्याग देना चाहिए । शोकरहित होकर ब्रह्मसाक्षात्कार करने वाला बाद में उस शुभ अभ्यास को भी छोड़कर स्वरूपावस्थित हो जाता है ।[1]

जीवन्मुक्ति के स्वरूपनिरूपण के पश्चात् 'जीवन्मुक्ति में प्रमाण क्या हैं ?' इस प्रश्न का उत्तर देते हुए ग्रन्थकार ने श्रुति एवं स्मृति को जीवन्मुक्ति के सद्भाव (स्थिति) में प्रमाण माना है ।

कठोपनिषद्[2] का प्रमाण है कि, 'वह मुक्त (जीवन्मुक्त) हुआ ही मुक्त (विदेहमुक्त) होता है, अर्थात् इस शरीर के रहते हुए ही कर्मबन्धन से मुक्त प्राणी, (बाद में – शरीरान्त होने पर) भावी सभी बन्धनों से मुक्त हो जाता है (अर्थात् पुनः शरीर ग्रहण नहीं करता) ।

कामना के बृहद् बन्धन आदि से सर्वथा मुक्त (जीवन्मुक्त) देहत्याग के बाद, भविष्य में होने वाले किसी भी प्रकार के बन्धन से मुक्त (विदेहमुक्त) हो जाता है।[3]

ज्ञान के पूर्व भी शमदमादिक साधनों को सम्पादन कर मुमुक्षु अधिकारी कामादिकों से मुक्त होता है, तथापि उसको एक समय प्रयत्नपूर्वक निरोध करना पड़ता है।

श्रुति में आये हुए विमुक्त एवं विमुच्यते पदों की व्याख्या करते हुए व्याख्याकार ने स्पष्ट किया है कि जीवन्मुक्त दशा में तो साधक 'विमुक्त' (विशेषकर मुक्त) होता है क्योंकि आत्मज्ञान को प्राप्त कर अन्तःकरण की वृत्तियों के अभाव से कामादिक वृत्तियाँ उदित होने में असमर्थ रहती हैं ।

प्रलयकाल में देहपात के अनन्तर अमुक कालपर्यन्त भाविदेह रूप बन्धन से मुक्त रहता है । विदेहमुक्ति (ज्ञान के बाद मुक्ति) होने पर तो आत्यन्तिक मोक्ष की

१. अपरोक्षानुभूति (पृ० १२४) का निम्न अंश, अर्थ स्पष्टीकरण में सहायक है – "परिवर्तन से स्वतन्त्र अर्थात् दृढ़ एवं ब्रह्म से एकरूपता (समानता) प्राप्त हुए चित्त के कारण, इस समानता की भी विस्मृति सच्ची समाधि है, उसे ही ज्ञान कहते हैं ।"

२. 'विमुक्तश्च विमुच्यते' – (कठ०उ०, ५/१)

३. 'जीवन्नेव दृष्टबन्धात् कामादेर्विशेषेण मुक्तः सन् देहपाते भाविबन्धात् विशेषेण मुच्यते ।' – (ग्रन्थ, पृ० ४१)

प्राप्ति होती है, इसीलिए श्रुति में 'विमुच्यते' (विशेषकर मुक्त होता है) यह कथन हुआ है।

बृहदारण्यक[1] का प्रमाण है कि हृदयाश्रित सभी कामनाओं के समाप्त हो जाने पर जीव मरणरहित होकर जीवित दशा में ही ब्रह्म को प्राप्त होता है । इसी प्रकार एक अन्य श्रुति[2] में भी जीवन्मुक्त पुरुष का वर्णन हुआ है ।

स्मृतियों में जीवन्मुक्त पुरुष का जीवन्मुक्त,[3] स्थितप्रज्ञ,[4] भगवद्भक्त[5], गुणातीत[6] ब्राह्मण[7] और अतिवर्णाश्रमी[8] आदि विविध संज्ञाओं से कथन किया गया है । इस प्रकार जीवन्मुक्त की विभिन्न संज्ञाएं हैं ।

जीवन्मुक्त लक्षण -

जीवन होते हुए भी, जीवनरहित की भाँति, जीवन्मुक्त पुरुष होता है । अर्थात् इसी जीवन में जीते हुए वह सभी बन्धनों से मुक्त होता है । ज्ञाननिष्ठ[9] एवम् आत्मविचार परायण पुरुष जीवन्मुक्त होते हैं । जीवन्मुक्त और विदेहमुक्त में वस्तुतः कोई भेद नहीं है, द्वैताभाव के कारण ।[10] शरीर एवम् इन्द्रियों के होने पर जीवन्मुक्ति, इनके अभाव में विदेहमुक्ति होती है । जीवन्मुक्त के शरीरेन्द्रियों का भी सद्भाव अन्य पुरुषों की दृष्टि में होता है, स्वयं उसकी दृष्टि में नहीं । दोनों प्रकार के मुक्तपुरुषों के अनुभव में कोई भेद नहीं है । उनकी समानरूप से अद्वैतसिद्धि एवं ब्रह्मभावसमरसता होती है।

जीवन्मुक्त पुरुष इन्द्रियव्यवहार एवं संसार में रहते हुए भी, जगत् की प्रतीति नहीं करता, उसे मात्र चिदाकाश ही भासता है । जीवन्मुक्त में जगत् की प्रतीति कराने वाली वृत्तियों का अभाव होने से केवल स्वयंप्रकाश चिदाकाश ही स्थित होता है ।

---

१. (बृह० उ०, ४/४/७)

२. "स चक्षुरचक्षुरिव सकर्णोऽकर्ण इव समना अमना इव ।' (अज्ञात)
(सम्भवतः किसी परवर्ती एवम् अल्पप्रचलित उपनिषद् का वाक्य है ।)

३. ल०वा०, अ० ५, 'अर्थदर्शनप्रकरण।'

४. भ०गी०, २/५८-६० ।

५. भाग०, १२/१३-१६ एवं भ०गी०, १२/१३-२० ।

६. भ०गी०, १४/२५ ।

७. म०भा०आनु०, २५१।

८. सू०सं०, अ०५, 'मुक्तिखण्ड'।

९. 'ज्ञाननिष्ठत्वं लौकिकवैदिक कर्मत्यागः' - (ग्रन्थ, पृ० ४३)

१०. 'द्वैतप्रतीतेरुभयत्राभावात्' - (ग्रन्थ, पृ० ४३)

यहाँ विद्वान् लेखक ने यह स्पष्ट किया है कि वृत्ति अभाव के कारण कोई सुषुप्ति को भी जीवन्मुक्ति की अवस्था न मान बैठे, अतः कहा गया है कि सुषुप्ति से उत्तरकाल में उदय होने वाली वृत्तियों का बीज सुषुप्ति में विद्यमान होने से बद्ध पुरुष की गणना जीवन्मुक्त में नहीं होती ।

जीवन्मुक्त प्राणी में मनपरिवर्तन के अभाव में वासनाराहित्य होता है । वह अहंकार एवं राग से विनिर्मुक्त होता है । उसकी बुद्धि कार्य करने अथवा न करने पर भी अहंकार एवं रागरहित है । अस्तु वह कार्य करे या न करे, उसके लिए कुछ भी विधि-निषेध नहीं है ।[1]

ब्रह्मवेत्ता शरीर रहते हुए भी अशरीरी हो जाता है क्योंकि उसके लिए अविवेकजन्य देहादि में आत्मप्रतीति और अहंप्रतीति मिथ्या ही होती है । ज्ञान-आत्मज्ञान द्वारा अज्ञान-मिथ्याज्ञान का निरास हो जाने से तज्जन्य भ्रान्तियाँ भी विनष्ट हो जाती हैं। चैतन्य के साथ एकाकार हुई दृष्टिवाले ब्रह्मविद् का शारीरिक कार्यों में कर्तृत्व, भोक्तृत्व नहीं रह जाता, देखने वालों की दृष्टि में वह जीवन्मुक्त कर्ता है, स्वयं की दृष्टि में वह कर्ता नहीं है, अकर्ता है। वहाँ तो अद्वैतदृष्टि होने से व्यक्ति कर्तव्यहीन हो जाता है।[2] आत्मज्ञान के बाद कोई क्रिया नहीं रहती, यह क्रियाहीनता ही परमपुरुषार्थ है। अस्तु, सारे पुरुषार्थों के समाप्त हो जाने को ही परमपुरुषार्थ माना गया है। क्रिया करने की जब तक इच्छा है, तब तक मानव अपूर्णता का अनुभव करता है। आत्मसाक्षात्कार हो जाने पर प्राणी कृतकृत्य[3] - पूर्ण हो जाता है।

जीवन्मुक्त पुरुष हर्ष, क्रोध, भय एवं उद्वेग के भावों से उन्मुक्त होता है।[4] उसमें तिरस्कार का भाव (क्रोध, सन्ताप) नहीं आता । वह समस्त कार्य व्यवहार में लगा हुआ भी परमशांत होता है, मानो किसी दूसरे के कार्य को कर रहा है । वह पूर्णात्मा (परमात्मा के अनुसंधान में निरन्तर लिप्त) होता है ।

विदेहमुक्त लक्षण -

देहपात होने पर जीवन्मुक्त, विदेहमुक्त हो जाता है ।[5] अस्तु विदेहमुक्ति,

---

१. "निस्त्रैगुण्ये पथि विचरतां को विधिः को निषेधः ।" - सुभाषित (शंकराचार्य) ।

२. "तत्केन कं पश्येत्तत्केन कं विजानीयात् ।" - (बृह०उ०, २/४/१४) ।

३. 'कृतं कृत्यं येन सः' सभी कर्तव्यों की परिसमाप्ति वाला, धन्य ।

४. 'तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वमनुपश्यतः ।' - (ईश उ०, ७) ।

५. 'मुक्तात्मा उपाधिकृतसंसारं त्यक्त्वा स्वरूपेणावतिष्ठते ।' - (ग्रन्थ, पृ० ५२)

जीवन्मुक्ति के बाद की अवस्था है। जीवन्मुक्त दशा को छोड़कर, प्राणी शरीर से अपने अधिकार को पृथक् कर, विदेहमुक्त अवस्था को प्राप्त करता है। अतः शरीराधिकार का अतिक्रम होने पर जीवन्मुक्त, विदेहमुक्त हो जाता है।

विदेहमुक्ति, मुक्ति की वह अवस्था है जो जीवन्मुक्ति के बाद क्रमशः प्राप्त होती है। विद्यारण्य के अनुसार भाविदेह की निवृत्ति ही विदेहमुक्ति है।[1] इस विदेहमुक्ति के लिए ज्ञान (तत्त्वज्ञान) सम्पादन किया जाता है ।

विदेहमुक्त में व्यवहारयोग्य कोई भी विकल्प नहीं रहता। हर्ष, विषाद, विश्राम की अवस्थाएं समाप्त हो जाती हैं। वह सत्, असत्, दूर, पास, व्यष्टि-समष्टि से भिन्न होता है।

विदेहमुक्त्यवस्था में शुद्ध सत् मात्र रह जाता है - निर्विशेष, निर्विकल्प। विद्यारण्य जी ने विदेहमुक्ति के समान जीवन्मुक्ति की गणना कर उसकी श्रेष्ठता बतलायी है। जीवन्मुक्ति दशा में जितने अंश में अन्तःकरण की निर्विकल्पता की अधिकता होती है उतने अंश में उस दशा की उत्तमता समझनी चाहिए।[2]

दो प्रकार की प्रज्ञा बतलायी गयी है - स्थिर एवं अस्थिर । स्थिर भी दो प्रकार की है - समाहित, व्युत्थित । समाहित स्थिर (समाधिस्थ स्थितप्रज्ञ) पुरुष के चेहरे की प्रसन्नता से उसके सन्तोष का अनुभव दिखायी देता है । यह सन्तोष इच्छाओं की सम्पूर्ति का परिणाम नहीं है, बल्कि आत्मसाक्षात्कार का परिणाम है । यह सन्तोष भी मन के रूपान्तर या परिवर्तन के कारण नहीं होता, बल्कि इस रूपान्तर के संस्कार के कारण है।[3] सम्प्रज्ञात समाधि में आत्मानन्द मनोवृत्ति द्वारा अनुभव होता है, असम्प्रज्ञात में तो स्वयंप्रकाश चैतन्य, आत्मरूप द्वारा अनुभव होता है। असम्प्रज्ञात, सम्प्रज्ञात की ही उच्चतम अवस्था है, अस्तु सम्प्रज्ञातस्वरूपा जीवन्मुक्ति का पर्यवसान ही असम्प्रज्ञातस्वरूपा विदेहमुक्ति में होता है।

सम्प्रज्ञात समाधि[4] द्वारा विवेकख्याति, तत्त्वज्ञान या सम्यग्ज्ञान होता है। क्लेशकर्मसंस्कारों के क्षीण होने के फलस्वरूप विवेकख्याति सुदृढ़ हो जाती है तब उसे

१. 'अस्माभिस्तु भाविदेहमात्रविवक्षयोच्यते ।' - (ग्रन्थ, पृ० ११७)

२. "जीवन्मुक्तावपि यावद्यावन्निर्विकल्पातिशयस्तावत्तावदुत्तमत्वं द्रष्टव्यम् ।" - (ग्रन्थ, पृ० ५३)

३. "संतोषश्च न वृत्तिरूपः किन्तु तत्संस्काररूपः ।" - (ग्रन्थ, पृ० ५६)

४. 'सम्यक् प्रज्ञायतेऽस्मिन्निति सम्प्रज्ञात समाधिः ।'

'धर्ममेघ समाधि'[1] कहते हैं । उस स्थिति में योगी जीवित रहते हुए मुक्त रहता है।[2] यही जीवन्मुक्ति है। सारे क्लेश तथा संचित और क्रियमाण कर्मसंस्कार और वासनासंस्कार नष्ट हो जाते हैं। केवल प्रारब्ध कर्मसंस्कार ही अवशिष्ट रह जाते हैं और उन्हीं के फलभोगपर्यन्त शरीरधारण होता है। शरीरपात होने पर विदेहमुक्ति का लाभ हो जाता है - द्रष्टा का स्वरूप में अवस्थान हो जाता है। अतः निर्विप्लव विवेकख्याति के पश्चात् जीवितावस्था में जो कैवल्य होता है, उसको जीवन्मुक्ति कहते हैं। लब्धविवेकख्याति योगी के प्रारब्धभोग के अनन्तर शरीरपात होने पर विदेहकैवल्य या विदेहमुक्ति होती है।

अविद्या के बिना वृत्तियाँ अक्लिष्ट ही होती हैं । अतः जीवन्मुक्त पुरुष, जिसकी अविद्या का नाश हो गया है, अक्लिष्ट वृत्ति-शुद्धज्ञानहेतुक- विवेकख्यातिविषयिणी वृत्तिवाला होता है । इसमें शुद्ध निर्ममरूप - निर्विकार, निर्लेप, निरंजन का ज्ञान होता है । यह विरक्त अवस्था है, जहाँ सकल क्लेशों का विनाश हो जाता है । तत्त्वमसि की अनुभूति इसी स्थिति में होती है ।

वेदान्त अविद्यालेश स्वीकार करता है । जीवन्मुक्तावस्था, यद्यपि पूर्णज्ञान की अवस्था है, तथापि यत्किंचित् पूर्वसंस्कार बने रहते हैं और इसी प्रबल प्रारब्ध के वश में होकर ज्ञानी भी कर्मभोग करता है । यहाँ यह स्पष्ट जान लेना चाहिए कि ज्ञानी के ये कर्मभोग बन्धनकारी नहीं होते । उसे तो प्रीति के बिना ही प्रारब्ध भोग होता है ।

वेदान्त में ब्रह्मसाक्षात्कार अविद्या को बनाये रखता है । अज्ञाननाश से अपवाद प्रक्रिया का तात्पर्य यह नहीं है कि सब मायिक जगत् तत्काल नष्ट हो जाता है । अज्ञान का बाध होता है, सर्वनाश नहीं । इसकी व्यावहारिक सत्ता है । अज्ञान नाश से ज्ञानमात्र बच रहता है ।

अविद्यालेश शब्द से मोह के आकारान्तर का ग्रहण किया जाता है । प्रबल प्रारब्ध से प्रतिबद्ध ज्ञान अविद्यालेश का निवर्तक नहीं होता । लेशाविद्या की अनुवृत्ति से उससे जन्य कर्मादि की अनुवृत्ति होती है, अतः आत्मवेत्ता की जीवन्मुक्ति सिद्ध हो

---

१. 'धर्मं मेहति वर्षति इति धर्ममेघः समाधिः ।'
विवेकख्याति का ही स्वच्छतम एवं निरन्तर प्रवहमान स्वरूप 'धर्ममेघ समाधि' है ।

२. "क्लेशकर्मनिवृत्तौ जीवन्नेव विद्वान् विमुक्तो भवति ।" - (यो०सू०भा०, ४/३०)

जाती है ।[1]

विरोधी तत्त्वज्ञान के उदय होने से भी अविद्यालेश निवृत्त नहीं होता। इसका कारण है – प्रबल प्रारब्ध कर्मो से ज्ञान का प्रतिबद्ध होना । शरीर-आरम्भक कर्मों का आश्रय लेकर ज्ञान-जनक कर्म प्रारब्ध कर्म का विरोध न करते हुए ही अपना फल देते हैं। इसलिए उन प्रारब्धकर्मों से प्रतिबद्धशक्तित होने के कारण तत्त्वज्ञान अविद्यालेश का नाशक नहीं होता। श्रुति के आधार पर प्रमाणित है कि ज्ञान-शक्ति-प्रतिबन्धक रूप प्रारब्ध कर्म की फलोपभोग से निवृत्ति होने पर प्रतिबन्धक-शून्य तत्त्वज्ञान से निःशेष अविद्या की निवृत्ति होती है।[2] तत्त्वज्ञानी पुरुष के कर्मसंस्कार नहीं बनते, आसक्ति के अभाव के कारण। वह केवल प्रारब्ध फलों को भोगता है। यद्यपि जीवन्मुक्त को विषयाभाव होता है, फिर भी मस्तिष्क की प्राकृतिक क्रियाएं (उठना, बैठना, चलना, सोना, भोजन करना, स्नान-ध्यान आदि) होती रहती हैं। किसी न किसी रूप में संस्कार रहते ही हैं और अनुभव किये जाते हैं, अन्यथा जीवन्मुक्त को कमण्डल, कुटिया आदि की भी पहचान न होगी। इस प्रारब्ध भोगकाल में ही अविद्यालेश स्वीकार किया जाता है, जिसमें भोजन, स्नानादि ज्ञान योगी को होते ही हैं। इस प्रतीक्षाकाल की परिसमाप्ति पर परममोक्ष की प्राप्ति होती है।

प्रश्न यह है कि योगी का कर्म बन्धनकारी क्यों नहीं होता ? उत्तर यह है कि सदोष प्रवृत्ति से ही बन्धन उत्पन्न होता है । योगी-जीवन्मुक्त निष्काम भाव से समर्पण भाव से किंवा भगवत्भाव से कर्म करता है और इसीलिए कर्मयोगी का कर्म बन्धनकारी न होकर मोक्षकारी कहा गया है ।

जीवन्मुक्त प्राणी के विषय एवम् विषयों की अभिलाषा समाप्त हो जाती है। परमानन्द में अवगाहन करने वालों को भला स्वल्प सुखों की अभिलाषा होगी भी क्यों?[3] समाधि का अभ्यास कदाचित् प्रमाद के निवारण हेतु कर्तव्य बताया गया है ।[4]

---

१. "अविद्यालेशशब्देन मोहाकारान्तरोक्तितः ।
ज्ञानस्य प्रतिबन्धाच्च प्रबलारब्ध कर्मभिः ।।१०।।
लेशानुवृत्तौ जज्जन्यकमदिरनुवृत्तितः ।
उत्पन्नात्मावबोधस्य जीवन्मुक्तिः प्रसिध्यति ।।११।।"
– तत्त्वप्रदीपिका (चित्सुखी) – चतुर्थपरिच्छेद – अविद्यालेशविमर्शः।

२. "तस्याभिध्यानाद्योजनात्तत्त्वभावाद्
भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः ।।" – (श्वे०उ० १/१०) ।

३. 'रसो मानसी तृष्णा साऽपि परमानन्दरूपस्य परस्य ब्रह्मणो दर्शने सति स्वल्पानन्दहेतुभ्यो निवर्तते।' -(ग्रन्थ, पृ० ६२)

४. 'उद्योगत्यागब्रह्मदर्शनप्रयत्नं कुर्वतोऽपि कदाचित्प्रमादपरिहाराय समाध्यभ्यासः ।' -(ग्रन्थ, पृ० ६३)

रागद्वेषविनिर्मुक्त इन्द्रियों को अपने वश में रखने वाला, वह प्रसन्नता को प्राप्त करता है।

शङ्का – ज्ञानोत्पत्ति के पूर्व भी रागद्वेष के अभाव की अपेक्षा है, जीवन्मुक्ति दशा में ही अपेक्षा नहीं है।

समाधान – यह बात ठीक होते हुए भी दोनों में कुछ अन्तर है, जिसे ग्रन्थकार ने श्रेयोमार्ग नामक ग्रन्थ के प्रमाण से स्पष्ट किया है कि विद्या की स्थिति के लिए, मुमुक्षु पुरुष में जो साधन-सम्पत्तियाँ प्रयत्न साध्य होती हैं, वे स्थितप्रज्ञ पुरुष में स्वाभाविक रहती हैं । स्थितप्रज्ञ पूर्ण शांत मन वालां होता है । यह स्थितप्रज्ञ की स्थिति 'जीवन्मुक्ति' कहलाती है। भगवद्भक्त (ईश्वर को समर्पित), जीवन्मुक्त ही होते हैं, गीता[1] द्वारा इसे प्रमाणित किया गया है। वार्तिककार[2] के उल्लेख से ग्रन्थकार ने स्पष्ट किया है कि जीवन्मुक्त पुरुष (आत्मज्ञानी) में जो (द्वेषशून्यता आदि) गुण स्वभावसिद्ध होते हैं, विविदिषासंन्यासी के लिए वे साधनरूप हैं। अर्थात् ज्ञान के इच्छुक प्राणी को उनकी सिद्धि, कर्तव्य होती है । गुणातीत पुरुष (३ गुणों-सत्व, रजस्, तमस् से परे), गीता[3] में वर्णित हैं।

ब्राह्मण[4] (ब्रह्म साक्षात्कार किया हुआ) के रूप में जीवन्मुक्त का उल्लेख व्यास[5] आदिक मुनियों ने किया है । ब्राह्मण, आत्मज्ञान सम्पादन कर निरन्तर प्रज्ञा करे[6] एवम् एकान्तवास कर निर्विघ्न रूप से परमात्म चिन्तन में लगा रहे ।[7] जिसके सम्पूर्ण कर्मों का क्षय हो गया है, जो किसी भी प्रकार के उद्यम से सम्बन्धित नहीं है, यहाँ तक कि जो न तो किसी की स्तुति करता है और न ही किसी को आशीर्वाद[8] देता है, उसे ब्राह्मण कहा गया है । यह शंका होने पर कि आशीर्वाद न देने से, प्रणाम करने वाले के हृदय में दुख होगा, ग्रन्थकार निर्देश करता है कि आशीर्वाद के बदले जीवन्मुक्त पुरुष "नारायण" शब्द का प्रयोग करे। गीता, योगवासिष्ठ, नैष्कर्म्यसिद्धि, श्रीमद्भागवत, विष्णुपुराण, मनुस्मृति, नारदपुराण, उपदेशसाहस्री एवम् ईशोपनिषद् से उद्धरण प्रस्तुत

१. 'भ०गी०, अ० १२/१३-१६ ।

२. नै०, ४/६६ ।

३. भ०गी०, १४/२१-२६ ।

४. 'ब्राह्मण शब्दो ब्रह्मविद्वाचीति ।' – (ग्रन्थ, पृ० ७१)

५. म०भा० आनु०, २५१ ।

६. बृह०उ०, ४/४/२१ ।

७. नारद उ०, ३/५६-५७ ।

८. 'यस्य यदपेक्षितं तं प्रति तदभिवृद्धिप्रार्थनमाशीः ।' – (ग्रन्थ, पृ० ७५)

कर ग्रन्थकार ने जीवन्मुक्त के आचरण एवं लक्षण विवेचित किये हैं।

अतिवर्णाश्रमी (चार वर्णों एवम् आश्रमों के बन्धन से परे) भी जीवन्मुक्त की संज्ञा है । सूतसंहिता के उद्धरणों द्वारा ग्रन्थकार ने इसे वर्णित किया है ।

द्वितीय प्रकरण – वासनाक्षय

जीवन्मुक्ति के तीन साधन बतलाए गए हैं -

१. तत्त्वज्ञान

२. मनोनाश[1]

३. वासनाक्षय

तीनों का (एक साथ) अन्वय होने पर जीवन्मुक्ति रूप फल मिलता है। जीवन्मुक्ति ग्रन्थ को देखने से प्रतीत होता है कि रचनाकार ने यहाँ विविध ग्रन्थों के एकदेशीय विचारों का एकत्र संयम किया है । इनमें भी कुछ ग्रन्थ उसके बहुत प्रिय हैं, यथा – योगवासिष्ठ के सर्वाधिक उद्धरण ग्रन्थ में यत्र-तत्र बिखरे मिलते हैं ।

प्रकृत अध्याय के प्रारम्भ में भी योगवासिष्ठ के पद्यों द्वारा ही साधनत्रय की साधना का सौम्यरूपेण वर्णन हुआ है।

क्रियासिद्धि में कई मंत्रों के सहविनियोग की भाँति एवं लोक जीवन में यथार्थ भोजन में दाल, शाक, रोटी आदि के सम्मिलित आहार की भाँति, जीवन्मुक्तिरूप अलौकिक फल की सिद्धि उपरोक्त तीनों साधनों के एक साथ अभ्यास द्वारा बतलायी गयी है । चिरकाल तक इनका सेवन हृदय की दृढ़ गाठों को तोड़ देता है ।

इन साधनों के ३ युग्म बन जाते हैं -

---

१. मन को भौतिकरूप या प्रवृत्तिरूप में नहीं मानना चाहिए । यहाँ पर ज्ञान या विचार सिद्धान्त के रूप में मन को मान्यता दी गयी है।

वेदान्तशास्त्र में चार अन्तःकरण बतलाए गए हैं -

मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार । प्रत्येक क्रिया इन्हीं चारों के संयोग से होती है । सामन्यतः चारों का एक ही स्वरूप होने से इन्हें अन्तःकरण सामान्य कहते हैं और इसीलिए मनोनाश से अन्तःकरण सामान्य का नाश हो जाता है । चित्त का लय मन में और अहंकार का लय बुद्धि में हो जाता है । बुद्धि मन से एकात्म होकर, स्वयं मन का लय शुद्ध चिद् वस्तु में हो जाता है ।

वर्तमान संदर्भ में, यहाँ पर ग्रन्थकार ने मनोनाश से प्रथम अन्तःकरण मन के नाश को ही लिया है। शुद्ध चिद् वस्तु में मन का लय ही मनोनाश है ।

१. मनोनाश और वासनाक्षय

२. तत्त्वज्ञान और मनोनाश

३. वासनाक्षय और तत्त्वज्ञान

तत्त्वज्ञान का मनोनाश और वासनाक्षय के साथ परस्पर कारणभाव दीख पड़ता है । तत्त्वज्ञान होने पर ही मन का निग्रह तथा वासनओं का क्षय होता है तथा पक्षान्तर में मनोनाश तथा वासनाक्षय के होने पर तत्त्वज्ञान की उत्पत्ति तथा दृढ़ता होती है।[1]

मनोनाश एवं वासनाक्षय भी अन्वयव्यतिरेकी हैं । दोनों एक दूसरे के कारण कहे गये हैं ।[2]

तत्त्वज्ञान का साधन - श्रवण, मनन, निदिध्यासन

वासनाक्षय का साधन - विरोधी वासना की उत्पत्ति

चित्त के निरोध के परिणाम[3] को ही मनोनाश कहा गया है । इस अवस्था में चित्तगत व्युत्थान का संस्कार शान्त हो जाता है और निरोधसंस्कार प्रकट होता है।

दूसरे अध्याय में वासनाक्षय का वर्णन किया गया है । भोगजन्य चित्तगत संस्कार ही वासना कहे गये हैं ।[4] उस वासना का क्षय विवेकजन्य शम दम आदि शुद्ध वासनाओं के दृढ़ होने से होता है ।

शङ्का - तत्त्वज्ञान तो विविदषासंन्यास का फल है, विद्वत्संन्यास का फल जीवन्मुक्ति है । फिर विद्वत्संन्यासी को तत्त्वज्ञान की साधना क्यों ? वह तो उसके लिए पूर्वसिद्ध ही है ।

समाधान - गौणप्रधानभाव से विद्वत्संन्यासी की साधना में तत्त्वज्ञान गौण एवं

१. "यावन्न तत्त्वविज्ञानं तावच्चित्तशमः कुतः ।
यावन्न चित्तोपशमो न तावत्तत्त्ववेदनम् ।।
यावन्न वासनानाशस्तावत्तत्त्वागमः कुतः ।
यावन्न तत्त्वसम्प्राप्तिर्न-तावद्वासनाक्षयः ।।" - (ल०वा०, २८/१११-११२)

२. "यावद्विलीनं न मनो न तावद्वासनाक्षयः ।
न क्षीणावासना यावच्चित्तं तावन्न शाम्यति ।।" - (ल०वा०, २८/११०)

३. द्रष्टव्य - यो०सू०, ३/९ ।

४. "पूर्वापरपरामर्शमन्तरेण सहसोत्पद्यमानस्य क्रोधादिवृत्तिविशेस्य हेतुश्चित्तगतः संस्कारो वासना । पूर्वपूर्वाभ्यासेन चित्ते वास्यमानत्वात् ।" - (ग्रन्थ, पृ० ६६)

वासनाक्षय और मनोनाश प्रधान साधन हैं, जबकि विविदिषासंन्यासी को तत्त्वज्ञान प्रधान एवम् अन्य दो गौण साधन हैं ।

शङ्का – तत्त्वज्ञान से कृतकृत्यता प्राप्त – मनोनाश एवं वासनाक्षय क्यों करे ?

इसका उत्तर जीवन्मुक्ति प्रयोजन प्रकरण में दिया गया है । जीवन्मुक्ति के सुख की प्राप्ति हेतु ही साधना की जाती है ।

शङ्का – विद्वत्संन्यासी को पूर्वप्राप्त तत्त्वज्ञान का गौणभाव से भी अभ्यास कैसे होगा?

समाधान – बार-बार तत्त्व का स्मरण करना ही अभ्यास है ।[1] योगवासिष्ठ रामायण के लीलोपाख्यान[2] के उद्धरणों द्वारा अभ्यास का वर्णन किया गया है। गीता[3] द्वारा निर्दिष्ट दैवी एवं आसुरी सम्पत्तियाँ मोक्ष एवं बन्धन का कारण हैं। अमृतबिन्दूपनिषद्[4] द्वारा यह प्रमाणित किया गया है कि मनोनाश भी जीवन्मुक्ति का कारण है।

दो प्रकार के बन्धन बतलाए गए हैं –

१. तीव्र बन्ध – नाम वृत्ति – साक्षात् आसुरी सम्पत्ति ।

२. मृदु बन्ध – सात्विक राजस रूप वृत्ति – द्वैतप्रतीति मात्र ।

वासनाक्षय द्वारा तीव्रबन्ध का नाश हो जाता है । मनोनाश द्वारा दोनों प्रकार के बन्धनों का नाश बतलाया गया है ।[5]

शङ्का उठती है कि जब मनोनाश से ही सम्पूर्ण बन्ध विनष्ट हो जाता है तो वासनाक्षय रूप साधन की क्या आवश्यकता है ? समाधान यह है कि मन के व्युत्थान काल में तीव्र बन्ध के निवारणार्थ वासनाक्षय की अपेक्षा होती है। पुनः शङ्का उठती है कि मृदु बन्ध विशेष हानिकारक नहीं है। हानिकारक तो तीव्र बन्ध है जो कि वासनाक्षय से नष्ट हो जाता है, तब मनोनाश का क्या प्रयोजन है ?

---

१. "केनापि द्वारेण पुनः पुनस्तत्त्वानुस्मरणमिति ।" – (ग्रन्थ, पृ० १०३)

२. लीलोपाख्यान – ल०वा, ६/१०८, ११०-११२।

३. भ०गी०, अ०१६ सम्पूर्ण

४. "मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः ।
बन्धाय विषयासक्तं मुक्त्यै निर्विषयं स्मृतम् ।।२।।
तावदेव निरोद्धव्यं यावद् हृदिगतं क्षयम् ।
एतज्ज्ञानं च ध्यानं च शेषो ग्रन्थस्य विस्तरः ।।१५।।"

५. "तत्र वासनाक्षयेण तीव्र बन्ध एव निवर्त्यते मनोनाशेन तूभयम् ।" – (ग्रन्थ, पृ० १०६)

समाधान यह है कि दुर्बल प्रारब्ध से प्राप्त हुए अवश्यंभावि भोग के प्रतीकार के लिए मनोनाश की आवश्यकता है। पञ्चदशी[1] वाक्य द्वारा स्पष्ट किया गया है कि अवश्यंभावि भोग के निवारण का एकमात्र उपाय मनोनाश है।

अन्यान्य उपनिषदों[2] के वाक्यों द्वारा प्रमाणित किया गया है कि तत्त्वज्ञान वासनाक्षय का कारण है । यही तत्त्वज्ञान मनोनाश का भी कारण बतलाया गया है।[3]

जैसे जीवन्मुक्ति के साक्षात् साधन - वासनाक्षय और मनोनाश हैं, उसी प्रकार विदेहमुक्ति का साक्षात्साधन तत्त्वज्ञान है। इस संदर्भ में स्पष्ट स्मृतिनिर्देश है कि ज्ञान द्वारा कैवल्य प्राप्त होने पर इस संसार से विमुक्ति मिल जाती है।[4] कैवल्य, मुण्डक, तैत्तिरीय, श्वेताश्वतर, कठ एवं बृहदारण्यक के वाक्यों से ज्ञान द्वारा सर्व अविद्यानिवृत्ति एवं परमपद की प्राप्ति बतलायी गयी है।[5]

विदेहमुक्ति ज्ञानोत्पत्ति के समकालीन होती है ।[6] यही बात भगवान् भाष्यकार ने कही है।[7]

शङ्का - विदेहमुक्ति तो, जीवन्मुक्ति के बाद प्रारब्धभोग की समाप्ति पर शरीरान्त होने पर होती है।

समाधान - यह दोष नहीं है। विवक्षाविशेष के कारण उपरोक्त कथन किया गया है। हम तो ज्ञानकाल में ही भाविदेह की निवृत्तिरूपा विदेहमुक्ति को प्रतिष्ठित करते हैं।[8]

---

१. पञ्च, ७/१५६ ।
२. श्वे० उ०, १/११, कठ०उ०, १/१/१२ ।
छा०उ०, ७/१/३, श्वे०उ०, १/८ । बृ०ह०उ०, २/४/१४।
३. मा०का०, ३/३२
४. "ज्ञानादेव तु कैवल्यं प्राप्यते येन मुच्यते" - (ग्रन्थ, पृ० ११३)
५. कै०उ०, ३/मु०उ०, २/२/८, २/२/१० एवं ३/२/६ ।
तै०उ०, २/१/१। श्वे०उ०, ३/८/कठ०उ०, १/३/८।
बृह०उ०, १/४/१०।
६. "सेयं विदेहमुक्तिर्ज्ञानोत्पत्तिसमकालीना ज्ञेया ।" - (ग्रन्थ, पृ० ११५)
७. ब्र०सू०शा०भा०, १/१/४ एवं ४/१/१३।
८. "अस्माभिस्तु भाविदेहमात्रविवक्षयोच्यते ।" - (ग्रन्थ, पृ० ११७)

ज्ञान द्वारा अज्ञान की ही निवृत्ति होती है, अतः लिङ्गदेह की निवृत्ति का साधन, स्वयं ज्ञान होकर, लिङ्गदेह की उपादानसामग्री की निवृत्ति हो जाना है। लिङ्गदेह की सामग्री, प्रारब्ध कर्म एवम् अनारब्ध कर्म हैं । ज्ञानी का अनारब्ध कर्म ज्ञान द्वारा निवृत्त हो जाता है, प्रारब्ध कर्म की निवृत्ति भोग से हो जाती है।

शङ्का – 'भाविदेह का अनारम्भ भी ज्ञान का फल है' यह बात सम्भव नहीं।

समाधान – भाविदेह का अनारम्भ विद्या का फल है । इस कथन में श्रुति प्रमाण है – 'जिस तत्त्वज्ञान के बाद फिर जन्म नहीं पाता ।'[1]

'ज्ञान अज्ञान का ही निवर्तक है' इस न्याय से भी विद्यारण्य जी को विरोध नहीं है । अज्ञान के साथ रहने वाला अब्रह्मत्व इत्यादि भी अज्ञान शब्द के द्वारा ही पञ्चपादिकाचार्य द्वारा कहा गया है। अज्ञान की निवृत्ति की भाँति अब्रह्मत्व, पुनर्जन्म की भी निवृत्ति ज्ञान से होती है, यह बात अनुभवसिद्ध है। अतः ज्ञानसमकालीना विदेहमुक्ति भाविदेह निवृत्ति लक्षणा है।[2] श्रुति में भी यथार्थ अमृतत्त्व का विवेचन किया गया है।[3] श्रुत्यन्तर[4] में भी यही बात कही गयी है कि आत्मज्ञानी विद्वान् इस जन्म में ही मरण रहित हो जाता है।[5]

शङ्का – १. तत्त्वज्ञान के कालान्तर विदेहमुक्ति फल मिलता है, अतः अदृष्ट (अपूर्व) कल्पना होगी, तब कर्मशास्त्र (यज्ञादि) में भी ज्ञानशास्त्र का अन्तर्भाव होगा ।

२. प्रारब्ध कर्म प्रतिबन्धकरूप हैं, उनकी समाप्ति पर फल होता है ।

३. मरणकाल में अन्य ज्ञान होता है।

समाधान– १. कालान्तर में क्षणिक होने से स्वयं अविद्यमान ज्ञान विदेहमुक्ति फल को नहीं दे सकता । विदेहमुक्ति फल तो ज्ञानसमकालीन है।

---

१. "यस्माद् भूयो न जायते ।" – (कठ० उ०, १/३/८)

२. "तस्माद्भाविदेहराहित्यलक्षणा विदेहमुक्तिर्ज्ञानसमकालीना ।" – (ग्रन्थ, पृ० १२२)

३. बृह० उ०, ४/२/४ एवं ४/५/१५

४. "तमेवं विद्वानमृत इह भवति ।" – (पु०सू०, तै० आ०, ३/१२/७)

५. विदेहमुक्ति का अर्थ यहाँ इस प्रकार है – 'भावी जन्म से मुक्ति'। इसके पूर्व विदेहमुक्ति से तात्पर्य था – 'मृत्यु के बाद मुक्ति'। दोनों ही अर्थों में श्री विद्यारण्य जी ने विदेहमुक्ति को लिया है। वस्तुतः विवक्षान्तर से ही दो अर्थ हैं। प्रकृत में प्रथम अर्थ पर ज़ोर दिया गया है और उसे ही स्वाभिमत माना गया है।

२. भाविदेह की अत्यन्त अभावरूप विदेहमुक्ति का केवल वर्तमान शरीर को ही स्थापन करने वाले प्रारब्ध कर्म के साथ कोईविरोध नहीं है।

३. अन्य ज्ञान का कोई उत्पादक साधन ही नहीं होता।

प्रतिबन्धकरूप प्रारब्ध कर्म की निवृत्ति से ही गुरु, शास्त्र आदि सम्पूर्ण संसार की निवृत्ति हो जाने से किसी भी साधन के अभाव में ज्ञान होता ही नहीं।

अतः 'वर्तमान देह की अभावरूप विदेहमुक्ति देहपात के बाद होती है' यह अन्य मत हमें मान्य नहीं है ।

अपना मत – हम भाविदेह की अभावरूप विदेहमुक्ति मानते हैं (जिसका कि प्रारब्धपर्यन्त स्थिर वर्तमान देह से कोई विरोध नहीं है) । यह विदेहमुक्ति तो ज्ञान समय में ही प्राप्त होती है । सिद्धान्ती ने शास्त्रप्रमाण प्रस्तुत किया है– भगवान् शेष कहते हैं – 'मरणकाल में स्वरूपविस्मृति होने से पुरुष कदाचित् पवित्र स्थान पर या शूद्र गृह में मरे तो भी ज्ञानकाल में ही मुक्त होकर शोक रहित वह पुरुष मुक्ति को ही प्राप्त होता है।'[1]

निष्कर्ष यह है कि विदेहमुक्ति में तत्त्वज्ञान साक्षात्-प्रधान साधन है । मनोनाश एवं वासनाक्षय, तत्त्वज्ञान द्वारा विदेहमुक्ति के साधन होने से गौण हैं। श्रुति[2] एवं स्मृति द्वारा यह बात प्रमाणित की गयी है कि आसुरी वासनाओं का क्षय करने वाली दैवीवासना ज्ञान का साधन है।

मनोनाश भी ज्ञान का साधन है । श्रुति[3] एवं स्मृति[4] से प्रमाणित किया गया है कि अपने मन पर विजय प्राप्त कर ध्यान करने वाला पुरुष परमात्मा का साक्षात् दर्शन करता है ।

शङ्का – १. तत्त्वज्ञान आदि तीनों की अनुवृत्ति मानने पर, जीवन्मुक्ति में तत्त्वज्ञान के समान अन्य दो भी बिना यत्न के सिद्ध होने से तीनों समान होंगे, तब वासनाक्षय एवं मनोनाश प्रधान न हो पायेंगे।

---

१. परमार्थसार, ८१ ।

२. बृह० उ०, ४/४/२३ ।

३. मु०उ०, ३/१/८ एवं कठ०उ०, १/२/१२।

४. म०भा०शा०, ४६/४५ ।

२. प्रयत्नसाधना मानने पर तीनों में प्रयत्न करना होगा, तब तत्त्वज्ञान में गौणपन न बनेगा।

समाधान – जीवन्मुक्ति अवस्था में, ज्ञान की केवल अनुवृत्ति तथा वासनाक्षय और मनोनाश प्रयत्नसाध्य हैं।[1]

दो प्रकार के विद्याधिकारी कहे गए हैं –

१. कृतोपासन (जिसने उपासना सिद्ध कर ली है)

२. अकृतोपासन (जिसने उपासना नहीं सिद्ध की है)

कृतोपासन योगी के वासनाक्षय एवं मनोनाश अत्यन्त दृढ़ होने से ज्ञान होने के अनन्तर विद्वत्संन्यास और जीवन्मुक्ति उसको स्वतः सिद्ध होती है । यही पुरुष अध्यात्मविद्या का मुख्य अधिकारी होता है। यह तीनों साधनों से एक साथ समन्वित होता है।

अकृतोपासन अधिकारी, मनोनाश एवं वासनाक्षय का सम्पादन करता है। विद्यारण्य जी का मत है कि वर्तमान में तो प्रायः अकृतोपासन अधिकारी ही होते हैं जो उत्सुकतावश विद्या में प्रवृत्त होते हैं ।[2] मनोनाश एवं वासनाक्षय से श्रवण, मनन और निदिध्यासन सिद्ध होता है । तब तत्त्वज्ञान का भलीभाँति उदय होता है । मनोनाश एवं वासनाक्षय का सम्पादन एवं प्रधानसाधनत्व इस लिए कहा गया है कि इनके दृढ़ अभ्यास न होने से वायु वाले प्रदेश में स्थित दीपक के समान इन दोनों की निवृत्ति हो जाती है । अतः निष्कर्ष यह है कि जीवन्मुक्ति हेतु विद्वत्संन्यासियों के लिए (पूर्वप्राप्त) तत्त्वज्ञान की केवल अनुवृत्ति मात्र होती है । वासनाक्षय एवं मनोनाश प्रयत्न करके साध्य हैं।

इन दोनों की साधना अत्यन्त कठिन मानी गयी है।[3]

वासना के स्वरूप का विशद वर्णन ग्रन्थकार ने इस प्रकार किया है –

पूर्वापर विचार को न करके दृढ़ भावना से पदार्थ का जो ग्रहण है, उसे वासना कहते हैं। वही अभिनिवेश कही जाती है अर्थात् आग्रहरूप व्यसन भी वह वासना ही है।

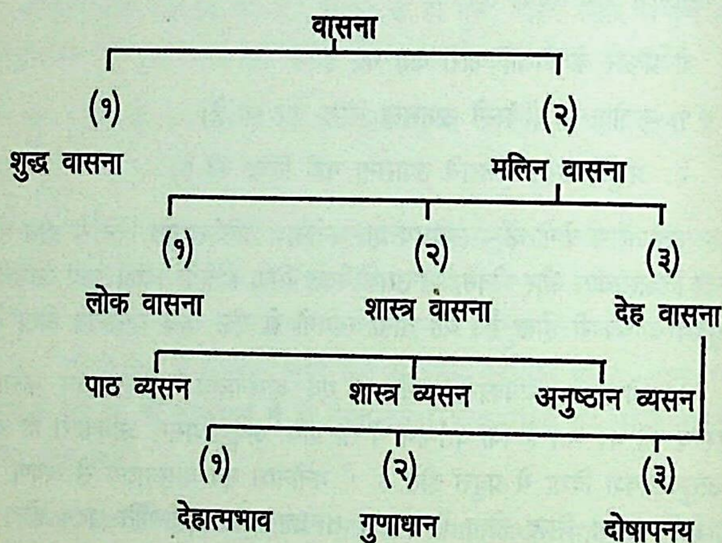
---

१. 'ज्ञानस्यानुवृत्तिमात्रमितरयोर्यत्नसाध्यत्वमित्यंगीकारात् ।' – (ग्रन्थ, पृ० १२६)

२. "इदानीं तु प्रायेणाकृतोपास्तय एवौत्सुक्यमात्रात्सहसा विद्यायां प्रवर्तन्ते ।" – (ग्रन्थ, पृ० १२६)

३. ल०वा०, २८/१०६ एवं
भ०गी०, ६/३४ – "चञ्चलं हि मनः कृष्ण, प्रमाथि बलवद्दृढम् ।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ॥"

रामायण, गीता, योगवासिष्ठ, उपनिषद्, शाङ्करभाष्य, चाणक्यनीति और सूतसंहिता ग्रन्थों से विविध उद्धरणों को प्रस्तुत कर विद्यारण्य ने वासना के जिस स्वरूप को प्रतिष्ठित किया है, उसे यहाँ सार रूप में प्रस्तुत किया जा रहा है -



दो प्रकार की वासनाएं हैं -

(१) शुद्ध वासना - ज्ञातज्ञेया - ज्ञेय वस्तु की विज्ञापक, देह निर्वाह के लिए धारण की जाने वाली एवं पुनर्जन्मविनाशिनी ।

(२) मलिन वासना - अज्ञानघनरूपा, अहंकाररूप एवं पुनर्जन्मकारिणी ।

शङ्का - पूर्वापर विचार का त्याग वासना का लक्षण बताया गया है । फिर ज्ञेय ज्ञान विचारजन्य होने से उसमें शुभवासना का लक्षण घटित नहीं होता ।

समाधान - ऐसा नहीं है । वासनालक्षण में 'दृढ़भावनया' (दृढ़अभ्यास द्वारा) ऐसा पद दिया गया है । काम क्रोधादि मलिन वासनाएं पूर्वजन्मों के दृढ़ अभ्यास से जन्य होती हैं । इसी प्रकार ज्ञान का चिरकाल निरन्तर सेवन[1] करने से आत्मतत्त्व

१. पंतजलि सूत्र में यही कथन किया गया है -

"स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढ़भूमिः ।" - (यो०सू० १/१४)

(वह अभ्यास तो दीर्घकालपर्यन्त, लगातार तथा सत्कारसहित किए जाने पर सुदृढ़ या परिनिष्ठित हो जाता है । अर्थात् इन तीन विशेषताओं वाला अभ्यास केन्द्रित हो जाता है ।

प्रकट होता है। इस प्रकार के बोध की अनुवृत्तिसहित जो इन्द्रियव्यवहार, वह शुद्धवासना रूप है, वह शरीर के जीवित रखने के लिए ही उपयोगी है ।

वह शुद्ध वासना यद्यपि प्रारब्धभोगपर्यन्त विद्वान् के मन में भी रहती है, तथापि जैसे मोक्ष की इच्छा फल से अनिच्छा है और सत्पुरुष का संग फल से असंग है, वैसे ही यह वासना भी फल से अवासना है । इस प्रकार से सम्यक् ज्ञानी का मन निर्वासनिक होता है ।

मलिनवासना दम्भ दर्प आदि आसुरसम्पद्रूप मानस वासना ही है, नरक का हेतु होने से इसकी मलिनता प्रसिद्ध है ।[1]

मलिन वासना ३ प्रकार की है - लोकवासना, शास्त्रवासना, देहवासना।

"सभी लोग मेरी निन्दा न करें, अपितु जिसप्रकार स्तुति करें, मैं वैसा आचार करूँगा" इस प्रकार का जो अभिनिवेश - आग्रह है, वह लोकवासना है। वह, क्योंकि सम्पादन करने में अशक्य है, इसलिए मलिन है । क्योंकि सर्वगुणसम्पन्न रामचन्द्र और पतिव्रता नारियों में शिरोमणि सीता का भी श्रवण करने में अशक्य लोकापवाद हुआ, तब अन्य जीवों का लोकापवाद हो, इसमें क्या कहना है ? परस्पर विद्वान् से लेकर स्त्री और गोपालपर्यन्त सर्वत्र निन्दा प्रसिद्ध है, अतः अपूर्ण होने से लोकवासना मलिन है।

शास्त्रवासना ३ प्रकार की है - पाठव्यसन, शास्त्रव्यसन, अनुष्ठानव्यवसन।

'मैं सदैव वेदादि का पाठ करूँगा' इस प्रकार का आग्रह पाठव्यसनरूप वासना है। भरद्वाज मुनि को इसके उदाहरण के रूप प्रस्तुत किया गया है ।[2] उस पाठ के भी अशक्य होने से यह मलिन वासना है। 'मैं सभी शास्त्रों का एकत्र सम्पादन करूँगा' इस प्रकार का आग्रह शास्त्रव्यसनरूप वासना है। आत्यन्तिक पुरुषार्थ के अभाव से यह बहुशास्त्रवासना मलिन है। दुर्वासा को इसके उदाहरण रूप में प्रस्तुत किया गया है।[3]

कर्म में अज्ञानता से अतिशयश्रद्धापूर्वक, जो सकाम कर्मों के अनुष्ठान में आग्रह है, वह अनुष्ठानरूप वासना है । उस कर्मवासना के पुनर्जन्म की हेतु होने से, यह वासना भी मलिन है । निदाघ एवं दाशूर इसके उदाहरण हैं ।[4]

---

१. भ०गी०, १६/४-२० ।

२. द्रष्टव्य - तै०ब्रा० ।

३. द्रष्टव्य - का०गी० ।

४. इनका वर्णन क्रमशः वि०पु० एवं ल०वा० में हुआ है ।

देहवासना ३ प्रकार की है - आत्मता की भ्रान्ति, गुणाधान भ्रान्ति और दोषापनय भ्रान्ति ।

'देह ही मैं हूँ' इस प्रकार की आत्मता की भ्रान्तिरूप वासना है । यह चार्वाक इत्यादि में प्रसिद्ध है । अप्रामाणिक होने से और सभी दुःखों का कारण होने से देह की आत्मता मलिन है ।

गुणाधान प्रायः नहीं देखा जाता क्योंकि प्रयत्न करने के बाद भी लोग सिद्धि नहीं प्राप्त कर पाते । यत्किंचित् सफलता प्राप्त हो भी जाए तो रागद्वेष से संकुल उनमें मलिनता ही प्राप्त होती है । विरोधी प्रबल दोषों के होते, गुणों का धारण अशक्य है अर्थात् गुणों का धारण करना सम्भव नहीं है । इस प्रकार शास्त्रों में गुणाधान का निषेध किया गया है ।

दोषापनय का भी निषेध है क्योंकि अत्यन्त मलिन देह की शुद्धि सर्वथा असम्भव है और देहस्थ आत्मा अत्यन्त निर्मल होने से उसको शुद्धि की अपेक्षा नहीं । इस प्रकार देहवासना मलिन है ।

ग्रन्थकार का मत है कि इन तीनों - लोक, शास्त्र और देह वासनाओं का विवेकी पुरुष सर्वथा त्याग करे ।[1]

वासनाक्षय की भाँति मनोनाश भी कर्तव्य है ।

तर्कशास्त्री - मन अणु एवं नित्य है, अतः उसका नाश नहीं हो सकता।

सिद्धान्ती - वैदिक पुरुष ऐसा नहीं मानते । वैदिकों के अनुसार सावयव अनित्य लोह सुवर्ण आदि के समान बहुत तरह के परिणामों वाला मन द्रव्य है। अतः मन अवयवों वाला, बाह्य और स्वयं में परिवर्तनशील होता है ।

कामादि वृत्तियों का उपादानकारण मन ही है ।[2]

मन ही चित्त भी कहलाता है - चिन्तन करने से ।[3] यह मन तीन गुणों वाला है । सत्त्वगुण, मन का मुख्य उपादान कारण है, रज एवं तम, सत्त्व गुण के उपष्टम्भक (उपादान कारण की सहायता करने वाले) हैं।

---

१. अ"तदेतत्त्रयम् विविदिषोर्वेदनोत्पत्तिविरोधित्वात् विदुषोज्ञानप्रतिष्ठाविरोधित्वाच्च विवेकिभिर्हेयम् ।" - (ग्रन्थ, १५७)

२. बृह० उ०, १/५/३।

३. "विशेषज्ञानकारणं मन एव मननान्मन इति चिन्तनाच्चित्तमिति चाभिधीयते ।" -(ग्रन्थ, पृ० १६०)

'योगी (ज्ञानी) का चित्त सत्त्वमात्र होता है।'[1] एकाग्र और सूक्ष्म चित्त द्वारा ही वह परमात्मदर्शन करता है।[2]

वासनाक्षय का प्रकार इसतरह है -

मानसी वासना एवं विषयवासना[3] को छोड़कर मैत्री, मुदितादि रूपा शुभवासना ग्रहण की जाए । उसके बाद शुभ वासना का भी त्यागकर चिन्मात्र वासना ग्राह्य है । तब मनबुद्धि सहित चिन्मात्र वासना का भी त्यागकर परब्रह्म में स्थिति करनी चाहिए। त्यागभाव वाली वृत्ति को भी त्याग देना चाहिए ।

शङ्का - आकारहीन होने से वासना का त्याग कैसे होगा ?

समाधान - शुभ वासना का ग्रहण ही मलिनवासना का त्याग है ।

आकार होना त्याग हेतु आवश्यक नहीं है । लोक में भोजन क्रिया एवं निद्रा का आकार विशेष न होने पर भी उनका त्याग रूप उपवास और जागरण देखा जाता है।

शङ्का - संकल्प करके सावधान रहने से त्याग देखा जाता है ।

समाधान - वासनाक्षय में भी यह बात लागू की जा सकती है ।

शङ्का - 'पुण्यवान् पुरुषों में मुदिता की भावना करने से पुण्य में प्रवृत्ति रूप फल होगा ।' यह कहना सम्भव नहीं क्योंकि पुण्य, मलिन शास्त्रवासना के अन्तर्गत हैं।

समाधान - मलिन वासना में तो पुनर्जन्म देने वाले काम्य कर्म गिने गए हैं। योगाभ्यासजन्य पुण्य अशुक्ल (अकाम्य) और अकृष्ण (अनिषिद्ध) होने से पुनर्जन्म का हेतु नहीं हैं।

शङ्का - योगविहित होने से पुण्यों की शुक्ल (काम्य) कर्मों में गणना होगी।

समाधान - योगविहित होने पर भी अकाम्य (काम्य कर्म न होने से) होने से उसे अशुक्ल कर्म ही माना गया है ।

योग काम्य कर्म न होने से स्वयं अशुक्ल कर्म है ।

---

१. 'ज्ञचित्तं सत्त्वमुच्यते ।' - (ग्रन्थ, पृ० १६४)

२. कठ० उ०, १/३/१२ ।

३. मानसी वासना शब्द से तीनों प्रकार की मलिनवासनाएं एवं विषयवासना शब्द से दम्भदर्पादि असुरसम्पदा विवक्षित है ।

शङ्का - योगियों की भी पुण्यों में प्रवृत्ति होगी।

समाधान - योगियों की प्रवृत्ति शुभवासनारूप होने से मलिनवासना का क्षय करने वाली है ।

शङ्का - शुभवासनाएं अनन्त होने से, उन सबका एक पुरुष अभ्यास नहीं कर सकता अतः सभी शुभवासनाओं के लिए अभ्यास निरर्थक होगा ।

समाधान - निवारणीय सभी मलिन वासनाओं का एक पुरुष में होना सम्भव नहीं है ।

शङ्का - विवेक के तत्त्वज्ञान के पूर्व[1] होने से ब्रह्मसाक्षात्कार सम्पन्न योगी को जीवन्मुक्ति प्राप्ति हेतु वासनाक्षय आदि साधनों का, जो कि विवेक के जन्मदाता हैं, निरूपण अनवसर है ।

समाधान - चित्तविश्रान्ति हेतु जनक ने विवेक किया । चार साधनों[2] से सम्पन्न व्यक्ति ब्रह्मज्ञान करता है ।

शङ्का - तत्त्वज्ञान के बाद मलिन वासना का संसर्ग न रहने से शुभवासना का अभ्यास निष्प्रयोजन है ।

समाधान - याज्ञवल्क्य, भगीरथ आदि में अनुवृत्ति देखी गयी है ।

आत्मज्ञानी - जीवन्मुक्त को विद्यामद नहीं होता, इससे पूर्व की अवस्था में विद्यामद हो सकता है ।

शङ्का - राग आत्मज्ञान का बाधक है ।[3]

समाधान - तत्त्वज्ञानी में रागादि हो सकते हैं ।[4] यदि यह कहा जाय कि रागादि होने पर ज्ञानी का पुनर्जन्म प्रसंग होगा, तो यह उत्तर है कि ज्ञानी पुरुष का रागादि तो भुने हुए बीज के समान केवल आभासरूप है ।

शङ्का - स्थितप्रज्ञ में भी रागादि होने से हानि क्या है ।

---

१. विवेक तत्त्वज्ञान के पूर्व होता है क्योंकि ब्रह्मज्ञान आत्म एवम् अनात्म वस्तुओं में विवेक आदि साधनों के अभाव में नहीं होता ।

२. चार सायन हैं - १. विवेक (ज्ञान) २. वैराग्य (कामनाभाव) ३. षट् सम्पत्ति (शमादि) ४. मुमुक्षुत्व (मुक्ति की इच्छा)।

३. नै०, ४/६७ ।

४. बृह० भा०वा०, ४/१७४६ ।

समाधान - स्थितप्रज्ञ अवस्था में मुख्य राग की ही भाँति, आभासरूप राग भी हो जाता है ।

शङ्का - रागादि का आभासपना अनुसंधान करने पर स्थितप्रज्ञ को भी बाधा नहीं पहुंचती ।

उत्तर - इसी को तो हम जीवन्मुक्ति कहते हैं।[1]

शङ्का - ब्रह्महत्या करने से याज्ञवल्क्य को मोक्ष न होगा।

समाधान - ब्रह्मलोक प्राप्त ज्ञानी का नाश नहीं होता।[2]

विद्या, धन, क्रोध, स्त्री और पुत्र की इच्छा ज्ञानी के लिए त्याज्य है । उपरोक्त सम्बन्धी मलिन वासनाएं विवेक द्वारा निवर्त्य हैं। अन्य वासनाओं को भी युक्तिपूर्वक निवृत्तकर जीवन्मुक्ति रूप पद की प्राप्ति होती है।

तृतीय प्रकरण - मनोनाश

यद्यपि समस्त वासनाक्षय होने से मन का नाश हो ही जाता है, तथापि समस्त मनोनाश का अभ्यास वासना को पुनः नहीं उदित होने देता।

शङ्का - वासनाक्षय की रक्षा अजिह्वत्व (मौन होना) आदि के अभ्यास द्वारा होगी।

उत्तर - मनोनाश होने पर अजिह्वत्व इत्यादि स्वयं सिद्ध होते हैं तब उनके अभ्यास करने के लिए प्रयास नहीं करना पड़ता।

अनेक प्रकार के कष्टरूप फल को देने वाले इस संसार वृक्ष को निर्मूल करने का एकमात्र उपाय मनोनिग्रह ही बतलाया गया है। योगवासिष्ठ[3] के पद्यों द्वारा मनोनाश को पुरुष का अत्यन्त अभ्युदय बतलाया गया है। भय एवं दुःख की निवृत्ति तथा ज्ञान एवम् अक्षय शांति मन के निग्रह के ही अधीन है।[4] उस चञ्चल चित्त का निग्रह अत्यन्त दुष्कर होता है ।[5]

---

१. इयमेव ह्यस्मदभिमता जीवन्मुक्तिः - (ग्रन्थ, पृ० १८४)

२. कौ०उ०, ३/१।

३. ल०वा०, १७/१, ५ एवं १५/ १८-२३ ।

४. मा०का०, ३/४०।

५. भ०गी०, ६/३४।

दो प्रकार का निग्रह बतलाया गया है -

(१) हठ निग्रह - इन्द्रिय निरोध के समान कदाचित् मन का भी हठ से निग्रह होना - ऐसा भ्रान्तिवश मूढ़ पुरुष मानते हैं ।

(२) क्रम निग्रह - (युक्ति द्वारा)

युक्ति द्वारा चित्तोपशमन होता है, हठ द्वारा अत्यन्त कठिन क्या, एकदम अशक्य है । अतः मन के निग्रहार्थ क्रम-निग्रह ही योग्य है ।

क्रम निग्रह में ४ प्रकार की युक्ति (उपाय) बतलाई गयी है -

१. अध्यात्मविद्या की प्राप्ति

२. महात्माओं का समागम

३. वासनाओं का परित्याग

४. प्राणों के स्पन्द का निरोध

क्रमशः अध्यात्मविद्या, सत्संग, विवेकजन्य वासनात्याग और प्राणवायु का निरोध - इन चारों का विवेचन हुआ है ।

अध्यात्मविद्या द्वारा द्रष्टा (आत्मा) और दृश्य (संसार एवं सांसारिक पदार्थ) का विवेक होने पर वृत्तिरहित मन स्वयं शान्त हो जाता है । श्रुति[1] भी यही बात कहती है।

आत्मतत्त्व को ठीक से न समझने वाले एवं उसे शीघ्र विस्मृत कर देने वाले जनों के लिए सत्पुरुषों का समागम ही उपायरूप है ।[2] गतिवान् प्राण और वासना मन के वेग को प्रेरित करती है।[3] प्राण एवं वासना चित्त को प्रेरित करने के अतिरिक्त परस्पर एक दूसरे को भी प्रेरित करते हैं।[4] एक के नाश से दूसरे का भी नाश हो जाता है।

प्राणायाम के दृढ़ अभ्यास से, आसन जय और नियमित आहार से प्राण गति रोकी जा सकती है। निःसङ्ग व्यवहार से जगत् में सत्यत्व बुद्धि को त्यागने से और शरीर के विनाशपन को बार-बार स्मरण करने से वासना समाप्त हो जाती है । इन प्राण एवं वासना के निरोध से चित्त अचित्तपन को प्राप्त होता है।

---

१. 'यथा निरन्धनोवह्निः स्वयोनावुपशाम्यति।
तथा वृत्तिक्षयाच्चित्तं स्वयोनावुपशाम्यति।।' - (मै०उ०, ४/४)

२. 'साधवो हि पुनःपुनर्बोधयन्ति स्मारयन्ति च।' - (ग्रन्थ, पृ० २२२)

३. ल०वा०, २८/३८, ४०।

४. ल०वा०, २८/३४, ६५।

पतञ्जलि ने आसन का लक्षण, उपाय एवं फल बतलाया है ।[1]

आसन सिद्धि का लौकिक उपाय – व्यावहारिक कार्यों में प्रयत्नरहित होना है अर्थात् मानस उत्साह की शिथिलता है क्योंकि यह उत्साह मनुष्य को कहीं भी प्रेरित कर सकता है।

आसन सिद्धि का अलौकिक उपाय – शेषनाग का ध्यान है।

आसनयोग का वर्णन श्रुति[2] में किया गया है कि एकान्त (शान्त) प्रदेश में, सुखपूर्वक आसीन, पूर्ण शुद्धता (शारीरिक एवं मानसिक) के साथ और गरदन, सिर एवं वक्षस्थल को एक समान सीधा रखते हुए योगाभ्यास का आरम्भ करना चाहिए।

अशन (भोजन) योग अर्थात् मिताहार का कथन श्रुति[3] एवं स्मृति[4] द्वारा प्रमाणित है। आसनयोगसिद्ध प्राणी के मन का नाश प्राणायाम से होता है। अतः इन्द्रियरूपी बदमाश घोड़ों वाले सारथी के समान मन को सावधानी से वश में करना चाहिए।[5]

योगी दो प्रकार के कहे गये हैं -

१. आसुरी सम्पत्ति रहित योगी – ब्रह्मध्यान द्वारा मनोनिरोध होने पर प्राण निरोध को प्राप्त करता है ।

२. आसुरी सम्पत्तिवान् योगी – प्राणायाम से प्राणनिरोध होने पर मनोनिरोध को प्राप्त होता है ।

प्राणनिरोध द्वारा चित्तनिरोध होने में श्रुति[6] एवं युक्ति[7] प्रमाण हैं।

प्राणरूप होने से मन इन्द्रियादि सब प्राण ही कहलाते हैं।[8]

---

१. यो०सू०, २/४६-४८।

२. कै०उ०, ४ एवं श्वे० उ० २/१०।

३. "अत्याहारमनाहारं नित्यं योगी विवर्जयेत् ।"- (ग्रन्थ, पृ० २२६)

४. भ०गी० , ६/१६-१७।

५. श्वे०उ०, २/८-६।

६. अ०ना०उ०, ७।

७. ल०वा०, २८/१२५।

८. बृह०उ०, १/५/२१ एवं ३/७/२।

शङ्का – प्राण और मन की गति एक साथ नहीं होती क्योंकि सुषुप्ति में प्राण होने पर भी मन व्यापाररहित होता है।

समाधान – उस समय मन के लय के प्राप्त हो जाने से उसका अभाव ही होता है।

शङ्का – प्राणनिरोध – प्राणक्षय सम्भव नहीं है।

समाधान – वेग की अतिमन्दता होना – यही प्राणक्षय का अर्थ है।

श्रुति निर्देश है कि प्राणनियमन हेतु धीरे-धीरे श्वांस ले।[1]

तीन प्रकार के प्राणायाम हैं – रेचक, पूरक, कुम्भक।[2]

एक चतुर्थ प्रकार के प्राणायाम – केवल कुम्भक का भी उल्लेख मिलता है।[3]

प्राणायाम से शान्तचित्त मन धारणा योग्य हो जाता है । धारणा का उत्कृष्टतम रूप ही ध्यानजन्य समाधि है, जब चित्त का लय शुद्ध चिद् वस्तु में हो जाता है । यह समाधि ही मनोनाश का उपाय है।

ग्रन्थ में विस्तृत रूप से ग्रन्थकार ने चित्तभूमियों एवं समाधि के अष्टांग- यमादि का वर्णन, पंतजलि सूत्रों एवं उनके व्यासकृत भाष्य के माध्यम से किया है ।

शङ्का – सम्प्रज्ञात समाधि के अंगी होने से वह योग का आठवाँ अंग कैसे होगी ?

समाधान – ध्यान और समाधि में अत्यन्त भेद न होने से ध्यान के बाद समाधि की भी गणना यागाङ्गों में है।[4]

धारणा, ध्यान, समाधि – मन से सम्बन्धित होने के कारण, सम्प्रज्ञात समाधि के अन्तरंग हैं । यमादि पाँच बहिरंग है। विद्यारण्य यहाँ स्पष्ट करते हैं कि किसी भूत या वर्तमानकालिक पुण्य के योग से प्राप्त हुए गुरुप्रसाद से प्रथम अंतरंग साधन प्राप्त होने पर बाह्य अंगों (यमादि) की प्राप्ति हेतु अति प्रयास नहीं करना रहता ।

पंतजलि ने पाँच तन्मात्र एवं उनके कार्य स्थूल पाँच भूत, इन्द्रियों एवम् अहंकार को विषय बनाने वाली सविकल्पक सम्प्रज्ञात समाधि का वर्णन किया है। उन समाधियों

---

१. 'प्राणान्प्रपीड्येह स युक्तचेष्टः क्षीणे प्राणे नासिकयोः श्वसीत् ।' – (श्वे०उ०, २/९)
२. द्रष्टव्य – यो०सू०, २/४९-५० ।
३. द्रष्टव्य – यो०सू०, २/५१ ।
४. "नायं दोषः अत्यन्ताभेदाभावात् ।" – (ग्रन्थ, पृ० २५४)

का अन्तर्ध्यान आदि सिद्धियों का कारण रूप होने से, मुक्ति के कारण रूप समाधि में विरोध बतलाया गया है। अतः विद्यारण्य वैसी समाधि निरूपण का आदर नहीं करते। आत्मविषयक सम्प्रज्ञात समाधि, वासनाक्षय और निरोध समाधि का कारण है, अतः उसका विद्यारण्य ने आदर किया है।[1]

निरोध परिणाम मन की वह स्थिति है जो निरोध समाधि (पूर्ण निरोध) को प्राप्त कराती है ।[2]

शङ्का – भाव क्षण-क्षण परिणामी होते हैं अतः निरुद्ध चित्त भी परिणामवाला होगा ।

समाधान – व्युत्थित चित्त का निरन्तर प्रवाह देखा जाता है । निरुद्ध चित्त का परिणाम नहीं होता ।[3]

निरोध समाधि या असम्प्रज्ञात समाधि में सभी वृत्तियों के अस्त हो जाने से निरोध संस्कार मात्र शेष रह जाते हैं । अतः निरोध समाधि में जपादि भी छूट जाते हैं।

मन के लय की ४ भूमियाँ कही गयी हैं –[4]

१. वाग्भूमि – सम्पूर्ण कर्मेन्द्रियाँ – मन में लय ।

२. मनोभूमि – सम्पूर्ण ज्ञानेन्द्रियाँ – अहंकार में लय ।

३. अहंकारभूमि – अहंकार (ज्ञानात्मा) – बुद्धि में लय ।

४. महत्तत्त्वभूमि – बुद्धि (महानात्मा) – शुद्ध चिन्मात्र में लय ।

शङ्का – वाणी का मन में प्रवेश नहीं हो सकता ।

समाधान – प्रवेश विवक्षित ही नहीं है, अपितु प्रथम वाणी के व्यापार को रोककर केवल मनोव्यापार अवशेष रखे यह तात्पर्य है।

शङ्का – योग में अधिक काल बीतने पर अन्य क्रियाओं का लोप होगा।

---

१. "आत्मविषयस्तु सम्प्रज्ञातसमाधिर्वासनाक्षयस्य निरोधसमाधेश्च हेतुस्तमात्तत्रादरः कृतोऽस्माभिः ।" – (ग्रन्थ, पृ० २५८)

२. यो०सू०, ३/६ ।

३. द्रष्टव्य – यो०सू०, ३/१० – "तस्य प्रशान्तवाहिता संस्कारात् ।"

४. कठ० उ०, १/३/१३ ।

समाधान - यह शङ्का उचित ही नहीं है । योग के अतिरिक्त सब क्रियाओं को त्यागने वाले का ही योग में अधिकार है ।

वाणी का मन में एवं मन का अहंकार में लय करने के बाद मनसहित इस विशेष अहंकार का महत्तत्त्वरूप सामान्य अहंकार अर्थात् बुद्धि में निवेष करे । बुद्धि का चैतन्य स्वरूप में निरोध करे।[1]

शङ्का - बुद्धि का अव्यक्त तत्त्व में निरोध क्यों नहीं कहा ?

समाधान - बुद्धि का अव्यक्त तत्त्व में तो लय ही हो जाता है, जब कि आत्मा में लय न होकर मात्र निरोध होता है ।

ग्रन्थकार के अनुसार निरोध ही अभिप्रेत है क्योंकि अन्तःकरण का लय पुरुषार्थ नहीं है, अपितु अन्तःकरण की एकाग्रता आत्मदर्शन का कारण होने से पुरुषार्थ है।[2] बुद्धि की सूक्ष्मता के लिए उसका निरोध करना अभिप्रेत है।

आत्मदर्शन स्वतःसिद्ध (एक स्थिर सत्य) है। फिर भी अनात्मदर्शन को रोकने के लिए ही चित्त के निरोध का अभ्यास आवश्यक है। गीता, वार्तिककार एवं सर्वानुभव योगी के वचनों को उद्धृत करते हुए यह प्रमाणित किया गया है कि अनात्मदर्शन के निवारणार्थ ही आत्मदर्शन-चित्तनिरोध का अभिधान है।

सिद्धान्त - आत्मसाक्षात्कार में केवल निरोधसमाधि ही उपायरूप नहीं है, अपितु विवेकज्ञान भी उपाय है। इसी बात को वशिष्ठ[3] ने भी इस प्रकार कहा है -

चित्तनाश दो प्रकार का है -

१. योग द्वारा - वृत्तिनिरोध

२. ज्ञान द्वारा - यथार्थ विचार

शङ्का - ज्ञान, योग से भिन्न नहीं है।

समाधान - वृत्तिसद्भाव एवं वृत्तिअसद्भाव की विवक्षा से दोनों में अन्तर किया गया है । सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात समाधि में इसी दृष्टि से काफी अन्तर है।

---

१. "महत्तत्त्वं तिरस्कृत्य चिन्मात्रं परिशेषयेत् ।" - (ग्रन्थ, पृ० २८०)

२. "न च स्वरूपलयः पुरुषार्थः, आत्मदर्शनानुपयोगात् ।" - (ग्रन्थ, पृ० २८२)

३. ल०वा०, २७/७२ एवं २६/१६० ।

शङ्का – तत्त्वदर्शन की इच्छा वाले व्यक्ति को तो साधनरूप होने से असम्प्रज्ञात समाधि का उपयोग है, किन्तु आत्मदर्शी को जीवन्मुक्ति के लिए समाधि की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि रागद्वेष आदि बन्ध की निवृत्ति तो सुषुप्ति से प्राप्त होती है।

समाधान – सुषुप्ति बन्धन की निवृत्ति नहीं करती।

प्रतिदिन स्वतः प्राप्ति अल्पकालीन सुषुप्ति तत्कालीन बन्ध की निवर्तक नहीं हो सकती क्योंकि उस समय क्लेश का अभाव ही होता है – मूढ़ पुरुष तक को सोते समय बन्ध नहीं होता। वह अल्पकालीन सुषुप्ति सभी समयों के बन्धन को काटने में भी असमर्थ है क्योंकि कालान्तर में रहे बन्धन की निवृत्ति एक समय में रहने वाली सुषुप्ति से कैसे होगी ?

इसलिए तत्त्वज्ञ पुरुष को भी क्लेशनाश हेतु असम्प्रज्ञात समाधि की आवश्यकता है।

चित्त की ४ अवस्थाएं –

१. लय – सुषुप्ति अवस्था

२. विक्षेप – विघ्न – काम और भोग रूप

३. कषाय – तीव्र राग द्वेष वासना

४. समप्राप्ति – ब्रह्मप्राप्ति

लय, विक्षेप और कषाय के दूर होने पर, समाधि द्वारा चित्त के आत्मा में लय (एकीभूत न कि विनष्ट) हो जाने पर आत्यन्तिक सुख होता है ।[1]

जब चित्तवृत्ति सब उपद्रवों से रहित शान्त स्थित होती है, तब जीवन्मुक्त ज्ञानी को मोक्ष का द्वार खुल जाता है। उस स्थिर इन्द्रियधारणा को ही योग कहते है।[2]

सम्प्रज्ञात समाधि में अक्लिष्ट[3] वृत्ति बनी रहती है। असम्प्रज्ञात में इसके भी न रहने से यह वृत्तिहीन अवस्था है। 'योग, चित्त वृत्ति का निरोध है' यहाँ पर क्लिष्ट वृत्तियों के निवारण की ओर ही संकेत है। हाँ, निर्विकल्पक समाधि में प्रवेश हेतु दोनों प्रकार की वृत्तियों का निरोध करना पड़ता है।

---

१. द्रष्टव्य – भ०गी०, ६/२१ एवं मै० उ०, ४/६ ।

२. द्रष्टव्य – कठ०उ०, २/३/१०-११ ।

३. "[illegible]गादिरहिता दैववृत्तयोऽक्लिष्टाः ।" – (ग्रन्थ, पृ० ३०७)

शङ्का - मंत्रजाप, देवध्यान आदि के क्रियारूप होने से इनका अभ्यास होता है, क्रियाहीन रूप होने से समाधि का अभ्यास असम्भव है।

समाधान - अभ्यास का अर्थ दोहराना नहीं है, अपितु 'चित्तैकाग्र के लिए बार-बार यत्न करना अभ्यास है।'[1] निरन्तर, दीर्घकालीन प्रयास से अभ्यास दृढ़ होता है।[2] अनेक जन्मों के अभ्यास से सिद्धि प्राप्त पुरुष परा गति को प्राप्त करता है। योग के चिरकालीन निरन्तर सेवन से ही सिद्धि प्राप्त होती है। यहाँ ग्रन्थकार ने श्रीहर्ष के वचन को प्रमाण माना है कि, 'जिस प्रकार भूलने के स्वभाववाला विद्यार्थी आगे बढ़ते हुए भी, पीछे पढ़े हुए को भूलता जाता है उसी प्रकार योग में अनियमित (अन्तराल रखने वाला) प्राणी कोई फल नहीं पाता।[3]

वृत्तिनिरोधावस्था को प्राप्त योगी, दुःखविनिर्मुक्त होकर परमलाभ प्राप्त करता है।[4] योगी-जीवन्मुक्तों के उदाहरण रूप में कच, शिखिध्वज, पह्लाद, उद्दालक, जनक एवं वीतहव्य का वर्णन किया गया है।

दो प्रकार के वैराग्य - पर एवं अपर हैं।

वैराग्य के भेद के आधार पर ३ प्रकार के योगी बतलाए गए हैं -

मृदु, मध्यम एवं तीव्र वैराग्यवान् योगी ।

अतिशय तीव्रवैराग्यवान् पुरुष को निर्विकल्पक असम्प्रज्ञात समाधि सिद्ध होती है - मन का नाश हो जाता है जिससे वासनाक्षय का संरक्षण होता है और जीवन्मुक्ति सुस्थिर होती है।[5]

शङ्का - मनोनाश से विदेहमुक्ति ही सिद्ध होती है, जीवन्मुक्ति नहीं।

समाधान - जीवन्मुक्ति में सरूप मनोनाश साधन है, तब मन सूक्ष्म रूप से रहता है। परम सात्विक वृत्तिमात्र रहती है। विदेहमुक्ति में मन का अरूप नाश (निःशेष नाश) हो जाता है।

---

१. "तत्र स्थितौ यत्नोभ्यासः ।" - (यो०सू०, १/१३)

२. यो०सू०, १/१४।

३. "अग्रेधावन्पश्चाल्लुप्यमानो विस्मरणशीलश्रुतवत् किमालम्बेतेति।"
- (खण्डनखण्डखाद्य, पृ० २०५) (प्रकाशक - चौ० प्र०, वाराणसी)

४. भ०गी०, ६/२२।

५. "मनोनाशेन वासनाक्षये रक्षिते सति जीवन्मुक्तिः सुप्रतिष्ठिता भवति ।" - (ग्रन्थ, पृ० ३१८)

जीवन्मुक्त में मन के सरूप नाश (सूक्ष्मस्वरूप रहे ऐसा नाश) के होने से उसमें मैत्री मुदिता[1] आदि भाव रहते हैं।

अतएव सरूप मनोनाश जीवन्मुक्ति का कारण है।

चतुर्थ प्रकरण – स्वरूपसिद्धिप्रयोजन

इस प्रकरण में जीवन्मुक्ति की सिद्धि के प्रयोजन[2] बतलाये गये हैं । पाँच प्रयोजन हैं –

१. ज्ञान की रक्षा

२. तप

३. विचार की निवृत्ति –(विरोध, कलह या फूट का अभाव) – विवादाभाव

४. दुःखनाश

५. सुखाविर्भाव

शङ्का – वेदप्रमाण द्वारा उत्पन्न तत्त्वज्ञान को बाधित करने वाला कौन होगा ? अतः उत्पन्न ज्ञान की रक्षा की क्या आवश्यकता है ?

समाधान – तत्त्वज्ञान होने पर भी, चित्त शान्ति न होने पर संशय विपर्यय सम्भव होते हैं। योगवासिष्ठ के प्रसंग से प्रमाणिन किया गया है कि तत्त्वज्ञानी होते हुए भी श्रीराम और श्री शुकदेव को संशय हुआ था । यह संशय, अज्ञान की भाँति ही मोक्ष का प्रतिबन्धक है। अज्ञानी, श्रद्धाहीन और संशययुक्त विनष्ट होते हैं ।

अज्ञान – मिथ्याज्ञान – मोक्षशास्त्र का विरोधी ।

अश्रद्धा – अविश्वास – विपरीत बुद्धि – मोक्षशास्त्रविरोधी ।

संशय – उभयकोटिक ज्ञान (असंभावना या अनिश्चय) – भोग एवं मोक्ष दोनों का विरोधी ।

---

१. द्रष्टव्य – यो०सू०, १/३३ – "समान लोगों में मैत्री, असमानों में करुणा, श्रेष्ठों में प्रसन्नता (उदारता) एवम् अपुण्यात्माओं में उपेक्षा की भावना करनी चाहिए ।"

२. प्रयोजन कथन ठीक ही है । आभाणक प्रसिद्ध है –
'प्रयोजनमनुद्दिश्य मन्दोऽपि न प्रवर्तते ।'

विपर्यय या विपरीतबुद्धि के उदाहरण रूप में निदाघ मुनि[1] का विर्णन मिलता है। संशय (असम्भावना) एवं विपर्यय (विपरीत भावना) - इन दोनों के होने पर तत्त्वज्ञान का फल, चित्तविश्रान्ति नहीं प्राप्त होती है । अपने कथन की पुष्टि में ग्रन्थकार ने पराशरोपपुराण[2] के वचन उद्धृत किए हैं ।

जगत्प्रतिभास से रहित ब्रह्मविद् क्रियाव्यापार बिना ही परमेश्वर[3] की प्रेरणा से ही चलता है ।

शङ्का - जीवन्मुक्त अपने शरीर को नहीं देखता,[4] वह सब व्यवहार करता है[5] - इन वाक्यों में विरोध है।

समाधान - दोनों की विश्रान्ति में तारतम्य होने से कोई विरोध नहीं है। जीवन्मुक्त पुरुष की चित्तविश्रान्ति में तारतम्य है। जीवन्मुक्त पुरुष तुरीय नामक सप्तम योगभूमि को प्राप्त होने पर व्युत्थान के सर्वथा अभाव से पूर्णतया निर्विकार हो जाता है। उसी को उद्देश्य कर भागवत वाक्य प्रवृत्त होता है। प्रगाढ़ सुषुप्ति रूपा षठी योगभूमि में स्थित योगी जाग्रत होने पर क्रियाव्यवहार करता है, इस दृष्टि से योगी में वशिष्ठ जी द्वारा उल्लिखित आचार कथन भी सिद्ध होता है । अतः दोनों में कोई विरोध नहीं है।[6]

श्रुति[7] के तात्पर्य से चार प्रकार के योगी वताए गए हैं -

१. ब्रह्मवित्
२. ब्रह्मविद्वर
३. ब्रह्मविद्वरीयान्
४. ब्रह्मविद्वरिष्ठ

---

१. द्रष्टव्य - वि०पु० ।

२. प०उ०, अ० १४ ।

३. परमेश्वर से यहाँ तात्पर्य माया में प्रतिविम्बित शुद्ध चैतन्य से है । वही समष्टि चैतन्य, सम्पूर्ण इकाइयों का स्वामी-शासक है, सम्पूर्ण संसार का नियामक है और विकासक्रम में जीव उससे नीचे है । द्रष्टव्य - पञ्च०, अ० २ ।

४. "देहं च नश्वरमवस्थितमुत्थितं वा सिद्धो न पश्यति यतोऽध्यगमत्स्वरूपम् ।" - (भाग०, ११/१३/३६)

५. "सन्तः पूर्वाचारक्रमागतमाचारमाचरन्त्येव ।" - (ल०वा०, १३/१२७)

६. "तदेवमनयोः भूमिद्वयेन व्यवस्थितत्वान्न कोऽपि विरोधः ।" - (ग्रन्थ, पृ० ३४०)

७. मु०उ०, ३/१/४ ।

योग की सात भूमिकाएं बतायी गयी हैं –

१. शुभेच्छा

२. विचारणा

३. तनुमानसा

४. सत्त्वापत्ति

५. असंसक्ति

६. पदार्थाभाविनी

७. तुरीया

प्रथम तीन भूमियाँ जाग्रत अवस्था रूप हैं। ये ब्रह्म विद्या की साधन हैं। ये ब्रह्मविद्या की कोटि में नहीं हैं क्योंकि इन तीनों में भेद के प्रति सत्य बुद्धि समाप्त नहीं होती।

चतुर्थ योगभूमि स्वप्नरूप, पंचम सुषुप्तिरूप, षठी प्रगाढ़सुषुप्तिरूप एवं सातवीं (जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति की अपेक्षा से चतुर्थ होने से) तुर्य अवस्था कही गयी है।[1]

ऊपर जो चार प्रकार के योगी कहे गए हैं, वे योग की चौथी भूमिका से लेकर क्रमशः सातवीं भूमिका में स्थित पुरुषों की यथाक्रम संज्ञा है । अर्थात् चौथी भूमिका में स्थित का नाम ब्रह्मवित्, पांचवीं भूमिका में स्थित का नाम ब्रह्मविद्वर, छठी भूमिका में स्थित का नाम ब्रह्मविद्वरीयान् और सातवीं भूमिका में स्थित योगी का नाम ब्रह्मविद्वरिष्ठ है।

ग्रन्थकार ने सातों प्रकार की भूमिकाओं का निरूपण योगवासिष्ठ के पद्यों को उद्धृत कर किया है।

चतुर्थ योगभूमि 'सत्त्वापत्ति' ब्रह्मसाक्षात्कारस्वरूपा होती है। पंचम, षष्ठम एवं सप्तम – ये तीनों योगभूमियाँ जीवन्मुक्ति के ही अवान्तर भेद हैं । ये भेद समाधि की विश्रान्ति के न्यूनाधिक्य के कारण होते हैं । पंचम अवस्था सभी प्रकार के विषयों के सङ्ग रहित ब्रह्मसाक्षात्कार की अवस्था है । षठी अवस्था आत्मा में अत्यन्त रति की अवस्था है जब सांसारिक बोध प्रायः लुप्तप्राय होता है । पूर्वोक्त छः हो भूमिकाओं का निरन्तर दीर्घकालीन अभ्यास होने पर सर्वथा भेद प्रतीति रहित (व्युत्थानहीन) और केवल आत्मस्वरूपा सातवीं भूमिका सिद्ध होती है ।

१. यो०वा०, ६/१२० ।

इसप्रकार तीन भूमियों रूप जीवन्मुक्ति प्राप्त कर लेने पर द्वैतप्रतिभास का अभाव हो जाता है, फलतः संशय विपर्यय समाप्त हो जाते हैं – इससे तत्त्वज्ञान की निर्वाधता की रक्षा होती है ।[1]

द्वितीय प्रयोजन तप का वर्णन करते हुए कहा गया है कि देवादि योनि की प्राप्ति कराने के कारण योगभूमियाँ, तपस्या रूप हैं।

शङ्का – योगभूमियाँ देवलोकादि प्राप्ति की कारण तो हैं लेकिन वे तपरूप कैसे हैं ?

समाधान – उनके तप होने में तैत्तिरीय ब्राह्मण[2] का वाक्य प्रमाण है ।

तत्वज्ञान के पूर्व की भूमिकाओं के तप रूप होने से कैमुतिकन्यायेन अवशिष्ट निर्विकल्पक समाधिरूप पांचवी, छठी एवं सातवीं भूमिकाएं भी तपरूप कही गयी हैं।

अतः सभी सातों भूमियाँ तप हैं। स्मृतिनिर्देश द्वारा मन और इन्द्रियों की एकाग्रता को ही परम तप माना गया है। गीता में भी श्रद्धावान् तपस्वी द्वारा ही ज्ञानलाभ का प्रवचन हुआ है।[3]

लोकसंग्रह (संसारकल्याण) के लिए एकाग्रता को ही तप कहा गया है।

संग्राह्य (विपरीत मार्ग से रोककर संमार्ग में प्रवृत्ति कराने योग्य) लोक तीन प्रकार का बताया गया है –

१. शिष्य

२. भक्त

३. तटस्थ (न शिष्य, न भक्त)

तटस्थ लोक में दो प्रकार के प्राणी आते हैं –

आस्तिक और नास्तिक ।

शिष्य गुरु में परमभक्ति अथवा श्रद्धा द्वारा ज्ञान लाभ प्राप्त करता है ।[4] योगी को अन्नदान आदि द्वारा सेवन करता हुआ उसका भक्त योगी के तप को स्वयं ग्रहण

१. "सेयं ज्ञानरक्षा जीवन्मुक्तेः प्रथमं प्रयोजनम् ।" – (ग्रन्थ, पृ० ३४०)

२. "तपसा देवा देवतामग्र आयन्, तपसर्षयः सुवरन्वविन्दन् ।" – (तै०ब्रा०, ३/१२/३)

३. "श्रद्धावान् लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः ।" – (भ०गी०, ४/३६)

४. श्वे०उ०, ६/२३ ।

करता है। आस्तिक प्राणी योगी के शुभाचरण को देखकर स्वयं भी संमार्ग में प्रवृत्त होता है।[1] नास्तिक व्यक्ति भी योगी की दृष्टि पड़ने से पाप से छूट-जाता है।[2] इस भाँति योगी सब प्राणियों का उपकारी है।

शास्त्रीय व्यवहार की ही भाँति योगी का लौकिक व्यवहार भी तपरूप कहा गया है। इसी दृष्टि से सर्वयज्ञस्वरूप योगी की उक्ति श्रुति[3] में की गयी है।

विवाद का अभाव तृतीय प्रयोजन है। जीवन्मुक्त योगी विवाद से रहित होता है। लौकिक एवं तैर्थिक (सैद्धान्तिक) दोनों प्रकार के मनुष्य उससे विवाद नहीं करते। लौकिक विवाद के दो रूप बताए गए हैं -

१. कलह रूप

२. निन्दा रूप

क्रोधादि रहित योगी के साथ किसी के विवाद का प्रश्न ही नहीं उठता। निन्दा रूप विवाद भी उसमें नहीं होता - निन्दा के लिए स्थान न होने के कारण। योगी में किसी भी प्रकार के अपयश, अपवाद या कलंक के व्यभिचार (सम्बन्ध) का स्थान न होने से, वह निष्कलंक होता है ।

साम्प्रदायिक विवाद भी दो प्रकार का है -

१. शास्त्र के प्रतिपाद्य विषय में

२. योगी के चरित्र के विषय में

वेदनिर्देश के अनुसार चलता हुआ योगी, दूसरे के शास्त्र के प्रमेय को दूषित नहीं करता । इस प्रकार शास्त्रीय विवाद का अभाव मुण्डक[4], बृहदारण्यक[5], अमृतबिन्दु[6] एवम् अमृतनादोपनिषद्[7] के वचनों द्वारा प्रमाणित किया गया है।

१. भ०गी०, ३/२१ ।

२. सू०सं०, २/२०/४४ ।

३. द्रष्टव्य - नारा०उ०, ८०। "एतद्वै जरामर्यमग्निहोत्रं सत्रं य एवं विद्वान् ।"

४. मु०उ०, २/२/५

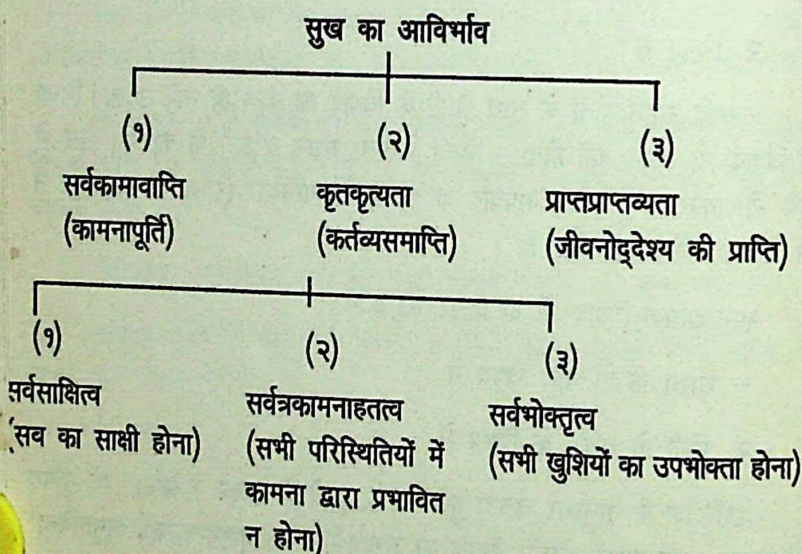
५. बृह०उ०, १८। ४१४/२१ ।

६. अ०बि०उ०, १८।

७. अ०ना०उ० १।

चार्वाक को छोड़कर, कोई भी साम्प्रदायिक योगी के चरित्र में विवाद नहीं करता, मोक्ष साधन एक होने से।[1] चौथा प्रयोजन - दुःखनाश है। पञ्चदशी[2], बृहदारण्यक[3] एवं तैत्तिरीय[4] उपनिषद् के वाक्यों द्वारा बतलाया गया है कि आत्मज्ञान हो जाने पर ऐहिक एवम् आमुष्मिक दुःखों का नाश हो जाता है ।

पाँचवा प्रयोजन - सुख का आविर्भाव है। श्रुति[5] द्वारा निर्दिष्ट है कि तत्त्वज्ञानी ब्रह्मज्ञान द्वारा एक साथ ही सम्पूर्ण भागों को प्राप्त कर लेता है। सब भोगों में दोष देखने वाले तत्त्ववित् पुरुष को किसी भी पदार्थ में इच्छा न होने से ही सर्वकाम की प्राप्ति कही गयी है।



---

1. "लोकायतिकव्यतिरिक्तः सर्वोऽपि तैर्थिको मोक्षमङ्गीकुर्वन्योगिचरिते न विसंवदितुमर्हति। सांख्ययोगादिमोक्षशास्त्रेषु प्रतिपाद्यप्रमेयस्य नानाविधत्वेऽपि मोक्षसाधनस्य यमनियमाद्यष्टांगयोगस्यैकविधत्वात् ।" - (ग्रन्थ, पृ० ३५५)
2. पञ्च०, १४/११-१४ ।
3. बृह०उ०, ४/४/१२ ।
4. तै०उ०, २/६ ।
5. "सोऽश्नुते सर्वान् कामान् ।" - (तै० उ०, २/१)

उपरोक्त तालिका में सुखोपलब्धि के प्रकार एवं उनका स्वरूप बताया गया है। गीता[1] उपनिषद्[2] एवं योगवासिष्ठ[3] के उद्धरणों द्वारा सुख के इन विविध रूपों की उपलब्धि को प्रमाणित किया गया है।

शङ्का – दुःखनाश एवं सुखप्राप्ति ये तत्त्वज्ञान सिद्ध हैं, अतः जीवन्मुक्ति के प्रयोजन नहीं हैं ।

समाधान – जैसे जीवन्मुक्ति में पूर्व उत्पन्न हुआ तत्त्वज्ञान सुरक्षित रहता है उसी प्रकार ये दोनों भी सुरक्षित रहते हैं । अतः इनके सुरक्षित रहने के ही संदर्भ में यह कहा गया है ।

शङ्का – लोक व्यवहार करते हुए तत्त्वज्ञानी से समाधिनिष्ठ योगी श्रेष्ठ है।

समाधान – दोनों समान हैं, अन्तःकरण की शीतलता दोनों में है।

शङ्का – योगवासिष्ठ में समाधि की निन्दा और व्यवहार की प्रशंसा की गयी है।

समाधान – ऐसा नहीं है। समाधि की श्रेष्ठता मानकर वासना की निन्दा की गयी है। वासनायुक्त समाधि से ही व्यवहार उत्तम कहा गया है।[4] अतः सिद्ध समाधि योगीश्वर ही श्रेष्ठ है।

पंचम प्रकरण – विद्वत्संन्यास

जीवन्मुक्ति के उपकारक विद्वत्संन्यास के निरूपण हेतु ग्रन्थकार ने इस प्रकरण में विद्वत्संन्यास के प्रतिपादक परमहंसोनिषद् का पाठसहित व्याख्यान प्रस्तुत किया है।

योगी परमहंस दोषमुक्त हैं।[5] वे ही विद्वत्संन्यास द्वारा जीवन्मुक्ति रूप परमसुख में अवगाहन करते हैं।

यहाँ केवल योगी और केवल परमहंस को सदोष बताया गया है। केवल योगी

---

१. 'भ०गी०, ३/१७

२. बृह०उ०, १/४/१० एवं मु०उ०, ३/२/६ ।

३. ल०वा०, २५/७-६ एवं २४।

४. "यद्यपि व्यवहारात् समाधिः प्रशस्तस्तथाप्यसौ
सवासनश्चेत्तदा निर्वासनाद् व्यवहारादधम एव स न समाधिः ।" – (ग्रन्थ, पृ० ३६३)

५. ल०वा०, ४२/१-६।

चमत्कार संलग्न होकर पुरुषार्थ भ्रष्ट होता है।[1] केवल परमहंस तत्त्वज्ञान द्वारा विरक्त होने पर भी यथेष्टाचरण (विधि निषेध का उल्लंघन) करता है।

योगी परमहंस पूर्णतया निर्दोष होता है क्योंकि उसमें सिद्धि में आसक्ति एवं यथेष्टाचरण दोनों ही दोष नहीं होते।

योगी परमहंस के मार्ग[2] एवं स्थिति[3] के वर्णन में सर्वप्रथम मार्ग प्रशंसा करते हुए उसे दुर्लभतम बतलाया गया है।[4]

शङ्का – दुर्लभतम होने से परमहंस योगत्व का क्या प्रयोजन ?

समाधान – एक भी वैसा पुरुष, पवित्र परमात्मा में स्थित वेद पुरुष होता है।

योगी परमहंस का मार्ग इस प्रकार बताया गया है –

यह योगी परमहंस अपने पुत्र, मित्र, स्त्री, बन्धु आदि को, शिखा, यज्ञोपवीत, स्वाध्याय और सर्वकर्मों को त्यागकर, केवल शरीर उपभोगार्थ निर्वाह के लिए और लोकोपकार के लिए कौपीन, दण्ड और आच्छादन को ग्रहण करे।

यहाँ पर जो पुत्र मित्र आदि का संन्यास कहा गया है वह विविदिषासंन्यास को धारण किये बिना, तत्त्वज्ञान प्राप्त योगी के विद्वत्संन्यास धारण करने की शर्त है ।

विविदिषासंन्यास धारण कर तत्त्वज्ञान प्राप्त करने वाले और बाद में विद्वत्संन्यास धारण करने वाले को स्त्रीपुत्रादि का प्रसंग नहीं है।

शङ्का – क्या विद्वत्संन्यास –

१. प्रैषोच्चारणादि विधि द्वारा सम्पादनीय है या

२. लौकिक त्याग मात्र रूप है ?

विधि रूप तो हो नहीं सकता क्योंकि तत्त्वज्ञानी को कर्तृत्व नहीं होता ।

लौकिक त्यागरूप भी नहीं है क्योंकि दण्ड कौपीन आदि का धारण होता ही है।

---

१. द्रष्टव्य – यो०सू०, ३/३८
२. "वेषभाषादिरूपो हि व्यवहारो मार्गः।"– (ग्रन्थ, पृ० ३६६)
३. "चित्तोपरमरूप आन्तरोधर्मः स्थितिः ।" (वही)
४. परम०उ०, १ ।

समाधान – प्रतिपत्ति कर्म के समान विद्वत्संन्यास लौकिक और वैदिक दोनों कर्मरूप है। अर्थात् प्रतिपत्ति कर्म के समान इस संन्यास का भी दोतरफा स्वरूप है।

प्रतिपत्ति कर्म इस प्रकार है – 'यज्ञकाल में कृष्णमृग के श्रृंग से खुजलावे। बाद में उसका विधिपूर्वक त्याग करे।' यह प्रतिपत्ति कर्म लौकिक और वैदिक दोनों प्रकार का है । इसी प्रकार विद्वत्संन्यास भी उभयरूप है।

तत्त्ववित् में कर्तृत्व का अत्यन्ताभाव नहीं होता, अन्तःकरण के सद्भाव से, क्योंकि अन्तःकरण कर्तृत्त्वाभिमानी होता ही है।

शङ्का – तत्त्वज्ञानी को विधि स्वीकारने पर, अपूर्व[1] जन्य देहप्राप्ति होगी।

समाधान – ऐसा नहीं है। उस अपूर्व का दृष्ट फल है – चित्तविश्रान्ति में प्रतिबन्धक कारण का निवारण। अतः जन्मान्तरप्राप्तिरूप अदृष्ट फल की कल्पना करना असंगत है।

श्रवण आदि विधियों का भी दृष्ट फल बताया गया है – ब्रह्मज्ञान की उत्पत्ति के प्रतिबन्धकों का निवारण ।

'प्रकृतिवद् विकृतिः कर्तव्या' इस न्याय से विविदिषासंन्यास के सभी धर्म विद्वत्संन्यास में संगत हैं। अतः प्रैषौच्चारण पूर्वक पुत्रमित्रादि का त्याग करना संगत है।

लौकिक त्याग भी विद्वत्संन्यास में प्राप्त होता है । दण्ड, कौपीन आदि विविदिषासंन्यास में मुख्य हैं जबकि विद्वत्संन्यास में गौण हैं ।[2]

योगी परमहंस की मुख्य विधि इस प्रकार है – 'वह दण्ड, शिखा, यज्ञोपवीत एवं आच्छादन कुछ भी नहीं रखता।'[3] यहाँ स्कन्दपुराण[4] का वचन उल्लेखनीय है जिसमें परमहंस को पूर्ण निवृत्त कहा गया है।

योगी परमहंस दण्ड, वस्त्रादि रहित होता है, यह सप्रयोजन ही है। दण्ड, वस्त्रादि व्यवस्था में विक्षेप पैदा होने से योग सिद्धि नहीं होती, जो कि (योग की असिद्धि) इष्ट नहीं है।

---

१. अदृश्य कर्म एवं परिणाम के मध्य में स्थित फल ।

२. "तच्च न मुख्योऽस्ति ।" – (परम०उ०, १)

३. "न दण्डं न शिखां न यज्ञोपवीतं नाच्छादनं चरति परमहंसः ।" – (परम० उ०, १-२)

४. "परमहंसस्त्रिदण्डं च रज्जुं गोबालनिर्मिताम् ।
शिखां यज्ञोपवीतं च नित्यं कर्म परित्यजेत् ।।"

अतः योगसिद्धि के लिए ही परमहंस आश्रम ग्रहण किया जाता है, यदि योगसिद्धि न हो तो आश्रम ग्रहण व्यर्थ होगा।

इसीलिए विक्षेप आदि की विवृत्ति हेतु दण्ड आच्छादन आदि का निषेध है। यहाँ एक न्याय (कन्या का विवाह वर के कल्याणार्थ होता है, न कि उसके नाश हेतु)[1] द्वारा ग्रन्थकार ने प्रमाणित किया है कि परमहंसाश्रम का ग्रहण योगसिद्धि हेतु है न कि विक्षेप हेतु।

शङ्का – परमहंस योगी आच्छादन के अभाव में शीत से कैसे बच पायेगा?

समाधान – उसे शीत, आतप, सुख-दुःख, मानापमान नहीं होते। इसी प्रकार वह ऊर्मियों – स्थितियों – भूख, प्यास, शोक, मोह, बुढ़ापा एवं मृत्यु से भी रहित होता है।[2]

शङ्का – निन्दा आदि का त्याग शरीर रहते सम्भव नहीं है।

समाधान – योगी अपने शरीर को मुर्दे की भाँति देखता है क्योंकि उसका शरीर, ज्ञान होने पर नाश हो जाता है ।

अतः दृश्यमान होते हुए भी देह में, आत्मबोध हट जाने से निन्दा आदि नहीं आते।

शङ्का – यदा-कदा दिग्भ्रम के समान देहात्माभिमान होने पर निन्दादि क्लेश होंगे।

समाधान – संशय, विपरीत ज्ञान और मिथ्याज्ञान के कारणों का सार्वकालिक निरोध हो जाने से, देहात्मभाव जाग्रत नहीं होता ।

संशय आदि का कारण अज्ञान एवम् अज्ञान वासना है। अज्ञान का नाश, तत्त्वमसि बोध से हो जाता है और वासना योगाभ्यास से निवृत्त हो जाती है।

भ्रान्ति के दो ही हेतु हैं –

१. अज्ञान

२. वासना

१. "न हि वरविघाताय कन्योद्वाहः' इति न्यायात् ।" – (ग्रन्थ, पृ० ३८५)

२. परम० उ०, २।

योगी में इन दोनों का नाश हो जाता है । अतः योगी नित्यनिवृत्त होता है।

इस नित्यता या दृढ़ता का कारण भी बताया गया है -

"वह आत्मतत्व में नित्य ज्ञान रूप होता है।[1] अतः ज्ञान के नित्यपन के कारण ज्ञान द्वारा नाश होने वाले अज्ञान और उसकी वासना की नित्य निवृत्ति योगी में कही गयी है।

शङ्का - आत्मा, जो कि परब्रह्म है, उसका आनन्द हम इस शरीर में क्यों नहीं अनुभव करते।

समाधान - विना उपासना के आत्मानन्द की प्राप्ति नहीं होती।[2]

सिद्धान्त - योगी परमहंस ज्ञानरूप शिखा एवं यज्ञोपवीत वाला होता है।[3] अतः कर्म के अंगीभूत शिखा एवं यज्ञोपवीत के द्वारा किये गये कर्मों से प्राप्त स्वर्गादि सुख, योगी को ब्रह्मज्ञान से ही प्राप्त होते हैं ।[4]

योगी की स्थिति के संदर्भ में स्पष्ट निर्देश किया गया है कि सभी कामनाओं के त्यागपूर्वक उसकी परम अद्वैत में स्थिति होती है ।[5]

योगी परमहंस को एकदण्डी (ज्ञानदण्डी) कहा गया है क्योंकि वह तत्त्वज्ञान रूप सत् दण्ड को धारण करता है।

काष्ठदण्ड धारण करने वाला अज्ञानी नर्कगामी होता है । ज्ञानदण्ड अज्ञान एवं तत्कार्य का निवारक है ।

एक सामान्य संन्यासी को त्रिदण्डी[6] कहा गया है, जिसका अर्थ है कि वह वाग्दण्ड, मनोदण्ड एवं कायदण्ड से युक्त होता है। काष्ठदण्ड, मानसदण्ड का विस्मरण हो जाने पर, उसके स्मरण हेतु धारण किया जाता है। तथापि ज्ञानदण्ड उत्तम एवं काष्ठदण्ड अधम माना गया है। इसलिए ज्ञानदण्डी ही मुख्य परमहंस है। ज्ञानदण्डी

---

१. परम० उ०, २ ।

२. "विना चोपासनं देवो न करोति हितं नृपु ।" - (ग्रन्थ०, पृ० ३६६)

३. परम० उ०, २ एवं ब्र०उ०, ६-१५ ।

४. "विपयानन्दस्य सर्वस्य वह्मानन्दलेशत्वात् सर्वं सुखं ब्रह्मज्ञानेनैवलभ्यते।" - (ग्रन्थ, पृ० ३६७)

५. परम०उ०, ३।

६. दण्ड का अर्थ है- लाठी या छड़ी । इसी प्रकार इसका अर्थ - नियंत्रण भी है। वाणी का नियंत्रण, मन का नियंत्रण एवं शरीर का नियंत्रण - ये दण्ड, एक सामान्य संन्यासी के प्रतीक रूप में निहित हैं।

संन्यासी के व्यवहार की विवक्षा में इस प्रकार वर्णन है - वह कुछ न करे - यथेष्टाचरण करे।[1] नमस्कार, निन्दा, स्तुति, मंत्र, ध्यान, उपासना, संग्रह एवं ग्रहण सबका उसके लिए निषेध है।[2] ब्रह्म में विश्राम को प्राप्त चित्त वाले योगी को कोई भी विकल्प नहीं बनता।

जीवन सिद्धि हेतु संन्यासी अकेला ही विचरण करता है। सिद्धि को अकेले से सम्बद्ध किया गया है। अद्वितीय आत्मतत्त्व में उसकी पूर्णनिष्ठा कही गयी है । इस भाँति मनुस्मृति, मेधातिथि, बौधायन, याज्ञवल्क्यस्मृति, एवं महाभारत के उद्धरणों द्वारा विद्वत्संन्यास एवं योगी परमहंस का स्वरूप विवेचन करते हुए ग्रन्थ की समाप्ति हुई है।

विवेचन -

जीवन्मुक्तिविवेक ग्रन्थ के सम्यक् आलोचन से एक ही निष्कर्ष निकलता है कि संन्यास एवं वैराग्य के निरूपणपूर्वक मोक्ष के स्वरूप का विस्तृत विवेचन करने वाला ब्रह्मविद्या का यह अनुपम ग्रन्थ है । मोक्षशास्त्रीय इस रचना की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि इस जीवन में ही परमानन्द की प्राप्ति का संदेश देना है। दर्शनशास्त्र के साहित्य में अपनी कोटि का यह अद्वितीय ग्रन्थ है, जिसमें परमकल्याण के स्वरूप की मौलिक रूप से अत्यन्त उदारतापूर्वक विवेचना की गयी है । पाण्डित्यपूर्ण इस ग्रन्थ की सम्पूर्ण विषयसामग्री ने आत्मलाभ अथवा परमतत्त्व की प्राप्ति के विवेचन को ही अपना लक्ष्य बनाया है । जीवन्मुक्तिविवेक, जीवन में पूर्णता के संदेश का संवाहक ग्रन्थ है।

ग्रन्थकार श्री विद्यारण्य जी स्वयं जीवन्मुक्त संन्यासी थे, सत् या ब्रह्मन् के प्रख्यात उदाहरण के रूप इसी जीवन में उन्होंने परमतत्त्व (आत्मज्ञान किंवा मुक्ति) की प्राप्ति कर ली थी । अपने ग्रन्थ में उनकी स्वयं की अनुभूतियाँ स्फुट हुई हैं । उनका जीवन, उनकी शिक्षाओं की सरलता से व्याख्या करता है । ग्रन्थ दर्शन से स्पष्ट हो जाता है कि ग्रन्थकार परमकोटिक आध्यात्मिक उन्नति से विभूषित महामहिम व्यक्तित्व थे । इस ग्रन्थ में निरूपित ज्ञान, इसी जीवन में नित्य सुख एवं शान्ति का मार्ग प्रशस्त करता है ।

विवेचन की दृष्टि से ग्रन्थ पूर्ण शुद्ध एवं दोषमुक्त है। शुद्धता से तात्पर्य मुख्यतः विषयगत तथ्यों के तारतम्यपूर्वक सुस्पष्ट निरूपण एवं केन्द्र बिन्दु (मुख्य ध्येय या लक्ष्य) मोक्ष की सर्वत्र सिद्धि से है। जिस विषय को प्रारम्भ किया गया है, उस

१. मा०का०, ३/३७

२. परम० उ०, ४

विषय में सुव्यवस्थित रूप से क्रमबद्ध जितना भी संकलन हो सकता था, किया गया है। विश्लेषणात्मक एवं विवेचनात्मक शैली के सर्वत्र दर्शन होते हैं। न्यायपूर्वक दार्शनिक विवेचन ग्रन्थ की विशेषता है । अपने सिद्धान्तों की दृढ़ता में तर्क के साथ ही साथ प्रमाणों की भरमार ग्रन्थ में सर्वत्र प्राप्त होती है। यद्यपि जीव, जगत्, माया, ईश्वर, सृष्टि आदि के विषय में स्पष्ट रूप से कोई सिद्धान्त, विषयान्तर हो जाने के कारण एवं ग्रन्थविस्तार किंवा बाहुल्य (जटिलता) की आशंका से, निरूपित नहीं किए गए हैं तथापि इन सबके विषय में विद्यारण्य का मत शंकर सम्मत ही है।

ग्रन्थ में अपने कथन की सत्यता तर्क एवं पूर्वग्रन्थों के प्रमाणों से सिद्ध की गयी है। कहीं भी पक्षपात या धूलिप्रक्षेप नहीं दिखायी देता।

जीवन्मुक्ति का प्रतिपादन विभिन्न उपनिषदों में एवं श्रीमद्भगवद्गीता तथा अन्य ग्रन्थों में संक्षेप एवं विस्तार से यत्र तत्र किया गया है । पराशर माधव में भी इसका विवेचन श्री माधवाचार्य जी ने विस्तार से किया है, फिर भी उन ग्रन्थों के अत्यन्त दुरूह होने से और मुमुक्षुओं को अल्पप्रयास से ही जीवन्मुक्ति के स्वरूप ज्ञान के लिए परमकृपालु, ग्रन्थकर्ताओं में अग्रगण्य, अखिलाविद्यानिकरपारदर्शी श्रीमद्विद्यारण्य स्वामी ने जीवन्मुक्तिविवेक नामक इस अन्वर्थनाम ग्रन्थ की रचना की है ।

तकनीकी अन्वेषण के आधार पर ग्रन्थ में सर्वत्र एकदृष्टि (समदृष्टि) के दर्शन होते हैं। एक अध्यवसायी विद्वान् होने के नाते ग्रन्थकार का पाण्डित्य कहने का विषय नहीं है। परोक्ष या अपरोक्ष रूप से अनेक ग्रन्थों एवं ग्रन्थकारों से लेखक का परिचय था। अत्यन्त जिज्ञासु प्रवृत्ति के होने से अन्वेषणात्मक शैली में प्रसादगुणोपेत, प्रवाह युक्त, सरल एवं सुबोध भाषा में ग्रन्थ का निर्माण हुआ है ।

दोषमुक्ति से तात्पर्य अप्रसंग व्याख्या, भाषागत दुरूहता, भावगम्य काठिन्य, विषयान्तर प्रवृत्ति एवं बचकानेपन के अभाव से है। अपने ग्रन्थ की रचना में रचनाकार का परम उपजीव्य जीवन्मुक्ति का वर्णन है। इसकी सिद्धि हेतु अनेक ग्रन्थों का सार ग्रहण करके गीता, भागवत एवं योगवासिष्ठ आदि ग्रन्थों से प्रतिपाद्य विषय के साधक प्रमाणों को उद्धृत किया गया है। संन्यास के विभागों का एवं जीवन्मुक्ति के विलक्षण सुख का निरूपक यह ग्रन्थ मुमुक्षु साधकों को परम उपयोगी है ।

ज्ञान प्राप्ति के समान समय में ही प्रतिबन्धक अज्ञान की निवृत्ति हो जाने से जिस मुक्त जीवन की कल्पना की गयी है, वही जीवन्मुक्ति का स्वरूप है ।

संन्यास, मोक्ष का अनिवार्य अंग कहा गया है । रागद्वेष से विनिर्मुक्त हो सांसारिक लगाव से दूर रहकर ज्ञानसाधना करता हुआ प्राणी मोक्ष को प्राप्त करता है। संसारबन्धन की निवृत्ति हेतु वैराग्य और तीव्र वैराग्य की आवश्यकता पर जोर दिया गया है। आचरण की पवित्रता साधक (योगी) के जीवन का अनिवार्य अंग होती है और इसी दृष्टि से डॉ० दास गुप्त ने इस ग्रन्थ को एक आचार सम्वन्धी पुस्तिका माना है।[1]

ग्रन्थ में संन्यास का साङ्गोपाङ्ग निरूपण किया गया है। पाण्डित्यपूर्ण शैली में प्रांजल एवं भावप्रसन्नगम्भीर भाषा में लिखित यह ग्रन्थ गद्य एवं पद्य का सुन्दर समन्वय है। सरल, सुबोध एवं त्रुटिहीन भाषा द्वारा केवलाद्वैत सिद्धान्त की यहाँ पूर्ण सुरक्षा की गयी है और यथाशक्ति शाङ्करसिद्धान्त की श्रीवृद्धि की गयी है। अद्वैतसिद्धान्त के अनुसार ज्ञान एकमात्र मोक्षसाधन है।[2] विद्यारण्य जी ने इस ज्ञानसाधना के हेतुरूप में ही विविदिषासंन्यास एवं विद्वत्संन्यास का वर्णन किया है। विविदिषासंन्यास, ज्ञानपिपासु का मार्ग है, जिसकी साधना श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन द्वारा अपरोक्षानुभूति कराती है। विद्वत्संन्यास, ज्ञानी (आत्मवेत्ता) का मार्ग है, जिस पर आरूढ़ होकर, कुछ भी न करते हुए इसी जीवन में परमानन्द की उपलब्धि होती है। ज्ञानी शरीर रहते हुए भी अशरीरी कहा गया है और उसके कर्म, बन्धनकारी नहीं होते क्योंकि उनमें आसक्ति (संस्कारगत वासना या भावना) का पूर्ण अभाव होता है। ब्रह्मभाव से ओतप्रोत वह जैसा चाहता है, करता है। विधि, निषेध, विचार, प्रचार आदि की उसमें लेशमात्र भी गुंजाइश नहीं रहती। वह सदेहमुक्त होता है । उसमें कोई वासना नहीं रहती और वह सुषुप्तवत्-सा रहता हैं। वह आत्मरत रहता है और संसार एवम् इसके पदार्थ उसकी दृष्टि से विलुप्त हो चुके होते हैं। उसकी दृष्टि सदा अन्तर्मुखी ही रहती है। वह अन्तर से समस्त कर्मों से संन्यस्त रहता है और किसी सी प्रकार की इच्छा से रहित होता है। बाह्य रूप से सम्पूर्ण कर्मों को करता हुआ भी वह आन्तरिक रूप से उनसे पूर्णतया अप्रभावित रहता है । उसके कर्म लोकोपकारी होते हैं और इस शरीर में ही परम सुख की उपलब्धि हेतु उसका शरीरधारण होता है। अस्तु, शरीरधारण का प्रयोजन किसी भी कामनापूर्ति हेतु अथवा इच्छापूर्वक नहीं होता, अपितु जीवन्मुक्ति के अपूर्व आनन्द (ब्रह्मानन्द) की अनुभूति उसे इसी शरीर में प्राप्त होती है।[3] यही उसके देह की किंवा

१. द्रष्टव्य - डा० दास गुप्त : भा०द०, भाग २ पृ० २०८ ।

२. "ऋते ज्ञानान्नमुक्तिः।" - (श्रुति), "ज्ञानादेव तु कैवल्यम् ।" - (श्रुति)

३. "जीवन्मुक्ति सुखप्राप्तिहेतवे जन्म धारितम् ।
आत्मना नित्यमुक्तेन न तु संसारकाम्यया ।" - (स्फुट-पद्य) - (आ० शङ्कर)

लौकिक जीवन की चरमकोटिक सार्थकता है जिसे प्राप्त कर वह कृतकृत्य हो जाता है।

वासना विनिर्मुक्त होने से उसका मन उसके वश में होता है। शुद्ध चिन्मात्र में स्थिति होने से वह आनन्द से परिपूर्ण रहता है।

शाङ्करसिद्धान्तों को हृदयंगम करने वाले स्वामी विद्यारण्य एक उच्चकोटि के दार्शनिक विद्वान् थे, जिनकी मौलिक प्रतिभा में कुछ भी संदेह नहीं किया जा सकता। उन्होंने अपने पूर्वग्रन्थों का विस्तृत अध्ययन किया था और इसीलिए उनके ग्रन्थ में विविध ग्रन्थों की विषयसम्बद्ध सामग्री के भरपूर दर्शन होते हैं। प्रकृत ग्रन्थ की रचना में उनकी आत्मानुभूति की अन्तःप्रेरणा तो प्रतीत ही होती है, उनका मुख्यप्रेरक योगवासिष्ठ लगता है। उन्होंने गीता, भागवत, उपनिषद्, पुराण एवं तमाम अन्य ग्रन्थों के उपयुक्त अंशों का उल्लेख किया है।

जीवन्मुक्तिविवेक ग्रन्थ के प्रथम अध्याय में उन ऋषियों का विवेचन है जो जीवन्मुक्ति की पुष्टि करते हैं। याज्ञवल्क्य, जनक आदि ने इसी जीवन में आत्मदर्शन किया था और क्रियारत होते हुए भी वे विनिर्मुक्त थे । उनका ब्रह्मात्मैक्य हो गया था और सच्चिदानन्द स्वरूप में स्थित वे शरीर, जीव एवं जगत् की वस्तुस्थिति को भलीभाँति जान चुके थे। जीवन्मुक्त में कर्तृत्व एवं भोक्तृत्व का अभाव कहा गया है। उसको द्वेष, शोक, संवेग अथवा सुख के उद्वेग नहीं होते । स्वयं आनन्द में स्थित होता हुआ वह जगत् कल्याणार्थ प्रेमपूर्वक व्यवहार में संलग्न होता है । दया, क्षमा, आर्जव, संतोष उसके भूषण कहे गए हैं। वह सच्चा दार्शनिक कहा गया है, जिसने जीवन, जगत्, ब्रह्म आदि का सम्यक् आलोचन कर अद्वैततत्त्व में निष्ठा प्राप्त कर ली होती है।

विशुद्ध बोधस्वरूप आत्मा की अनुभूति होने पर योगी के सम्पूर्ण अज्ञानबन्धन समूल विनष्ट हो जाते हैं। वह वीतशोक सुखी हो जाता है। इसी जीवन में वह संसारबन्धन से पार हो चुका होता है और नित्यानन्द स्वरूप में स्थित निरन्तर पूर्णता का अनुभव करता है। सर्वाधिष्ठान, अद्वय ब्रह्म की अनुभूति काल में ही जगत् की सत् प्रतीति समाप्त हो जाती है। लोकानुग्रहार्थ ही उसके क्रिया व्यवहार होते हैं। प्रारब्ध भोग की निवृत्ति होने पर धारित शरीर का उच्छेद हो जाने पर निःशेषेण उसकी अद्वैतसिद्धि हो जाती है । पुनः उसका जन्म नहीं होता क्योंकि प्रभु के परमधाम को प्राप्त हुआ वह आत्मस्वरूप (सद् ब्रह्म) में अत्यन्त एकीभाव से लीन हो जाता है । यही विदेहमुक्ति है, जो सम्पूर्ण भावी बन्धनों की निवृत्तिस्वरूपा है ।

दूसरे अध्याय में वासनाओं के नाश के सम्बन्ध में विवेचन हुआ है। वासना का परित्याग, जीवन्मुक्ति का हेतु है । विषयों की निवृत्ति ही मुक्ति का हेतु कही गयी है।[1] जो वासनारहित है उसका कोई कर्तृत्व अथवा भोक्तृत्व नहीं हो सकता। कर्मशील होने पर भी वासनारहित होने के कारण उसमें फलासक्ति का अभाव होता है और उसके कर्म अनासक्तिपूर्वक चलते रहते हैं। जब तक हमारे ज्ञान का सम्बन्ध जगत् से रहता है तब तक बन्धन रहता है और जब दृश्य जगत् से हमारा ज्ञान पूर्णतः असंग हो जाता है, वहाँ मोक्ष की प्राप्ति होती है। वासना की समाप्ति हो जाने पर मन का लय हो जाता है। उस तुरीयावस्था में द्रष्टा और दृश्य नहीं रह जाते। चिन्मात्र या शुद्ध आत्मा की अनुभूति मात्र शेष रह जाती है । वह अनुभूति भी कहने का विषय नहीं है, अपितु अनुभवमात्र है। योगवासिष्ठ के उद्धरणों द्वारा लेखक ने सिद्ध किया है कि वासनाओं के त्याग देने पर ही सिद्धि प्राप्त होती है। योगवासिष्ठ में योग की परिभाषा अवेदनम् की उच्चतम अवस्था[2] के नाम से दी गई है । इसी का दूसरा नाम वासनाओं के विष के प्रभाव का निरोध कहा गया है।[3]

तीसरे अध्याय में मनस् के नाश का विवरण है। आध्यात्मिक साधना में मन का विशेष महत्त्व है। आध्यात्मिक प्रगति हेतु मन को सांसारिकता से विमुख करके मोक्ष की ओर लगाना पड़ता है । मन का नाश - शुद्धात्मा में विलय, जीवन्मुक्ति का हेतु है। सारी साधना का केन्द्रबिन्दु मन ही है। मनोनियंत्रण परमपुरुषार्थ की सिद्धि के लिए अनिवार्य है। अभ्यास और वैराग्य द्वारा ही उस पर विजय प्राप्त की जाती है। मन का विश्वास (आत्मविश्वास) ही सफलता की कुञ्जी कहा गया है।

वस्तुतः यह संसार केवल मन या विचारों का ही प्रसार है। विचारानुसार ही हम भोग या मोक्ष पथ के अनुगामी बनते हैं । इसी दृष्टि से मन को बन्धन एवं मोक्ष दोनों का कारण कहा गया है।[4] प्रकारान्तर से भगवान् कृष्ण की भी यही वाणी है।[5] अतः जो कुछ है मन ही है।

---

१. "मुक्तिमिच्छसि चेत्तात विषयान्विषवत् त्यज ।
क्षमार्जवदयातोषं सत्यं पीयूषवद् भज ।।" - (अष्टावक्र मुनि)

२. "अवेदनं विदुर्योगम् ।"

३. "इच्छाविषविकारस्य वियोगं योगनामकम् ।" - यो०वा०, ६/३७/१, ६/१२६/६६।

४. "मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः ।
बन्धाय विषयासक्तं मुक्त्यै निर्विषयं स्मृतम् ।" - (ब्र०वि०उ०, २)

५. "श्रद्धामयोऽयं पुरुषः यो यच्छ्रद्धः स एव सः ।" - (भ०गी०, १७/३)

सांसारिक कार्यों में मन का प्रयोग प्रत्यक्ष ही है। विशुद्ध अन्तःकरण में राग द्वेष-अभिमान की बू तक नहीं होती। वह तो विवेकी मन होता है और अपना पथप्रदर्शक होता है। सेवा, शिष्टाचार एवं प्रेम अन्तःकरण की शुद्धि के उपाय हैं। इस प्रकार विशुद्ध हुआ अन्तःकरण अपने स्वरूप की ओर अभिमुख होता है। अपनी अभिव्यक्ति की भावना तब दूर होती है जब कि साधक का मन सूक्ष्म होकर तत्त्वचिन्तन के योग्य बन जाता है और अपनी अभिन्नता को ब्रह्म से स्थापित करता है। मन का शोधन और सूक्ष्मीकरण अर्थात् चित्त की एकाग्रता सम्पाद्य है। बड़ी कठिनाई से तेलधारावत् चिन्तन बन पड़ता है। बन्धन का हेतु मन यहाँ मोक्ष का हेतु बन जाता है। भगवान् के सौंदर्य, आनन्द एवं प्रेम में लीन व्यक्ति संसार में सुख नहीं पाता है। उसको संसारनिवृत्ति एवं परमप्रेमास्पद की प्राप्ति हो जाती है।

मन दो प्रकार का कहा गया है । प्रथम तो शुद्ध मन तथा द्वितीय अशुद्ध मन। शुद्ध मन वह है जिसमें विषय वासनाओं – कामनाओं का सर्वथा अभाव रहता है तथा वासनाओं और विषय भोगों के संकल्प जिसमें उठते रहते हैं वही अशुद्ध मन कहा गया है। जब मन से विषयासक्ति निकल जाती है तब वह हृदय में स्थिर होकर उन्मनीभाव को प्राप्त होता है। वही परमपद की प्राप्ति है। मन का हृदय (आत्मा) में लय जाना ही ज्ञान है और मोक्ष का कारण है। जब कोई चिन्तनीय या अचिन्तनीय रह ही न जाये तब साधक को ब्रह्मभाव की प्राप्ति कही गयी है।

अति-चंचल मन को अभ्यास द्वारा ही वश में करके परमतत्त्व का चिन्तन करने पर भावस्वरूप परमात्मा की उपलब्धि होती है। मन का निरोध तब तक बतलाया गया है, जब तक वह आत्मतत्त्व में स्थिर होकर पूर्ण तटस्थ भाव को न प्राप्त हो जाए।

चित्तवृत्तिनिरोध होने के बाद मन और आत्मा के एकाकार होने पर सम्पूर्ण कलाओं से रहित, अव्ययहीन विकल्पशून्य निरंजन मायारूप मलरहित शुद्ध ब्रह्म की आत्मानुभूति होती है। ऐसी अनुभूति वाला साधक इस जीवन में ही परमज्योति को प्राप्तकर स्वयं उसी रूप का होता है। अहंकारस्वरूप 'अहम्' और 'अस्मि' की भी सत्ता नहीं रह जाती। परम शुद्ध चिन्मात्र का हावभाव मात्र रह जाता है। जीवन्मुक्ति सुख की प्राप्ति हेतु प्रारब्धपर्यन्त शरीरधारण के पश्चात् साधक की विदेहमुक्ति कही गयी है।

मनस् संतत क्रियाशीलता का द्योतक है । कर्म अथवा स्पन्दन इसी के रूप हैं अतः क्रियानिवृत्ति ही मनोनाश कही गयी है।[1]

यहाँ सरूप मनोनाश ही अभीष्ट है। विदेहमुक्ति में अरूप मनोनाश कारण कहा गया है। मुक्ति की अभिलाषा वाले प्राणी पुनर्जन्म की इच्छा नहीं करते। मन की इसी प्रकार की स्थिति सरूप मनोनाश कही गयी है, जो जीवन्मुक्ति का हेतु है।[2]

मनोनाश हेतु निरन्तर सावधानीपूर्वक चित्त का स्थैर्य (स्थिति) सम्पादन करना पड़ता है। सत् युक्ति के आश्रय के बिना उसकी स्थिति नहीं होती।[3]

चतुर्थ अध्याय में जीवन्मुक्ति के उद्देश्य के सम्बन्ध में विवेचन है । जीवन्मुक्ति की उपयोगिता का सबसे बड़ा प्रमाण तो जीवन्मुक्त की आत्मानुभूति- इसी जीवन में सर्वदुःखविनिर्मुक्ति एवं ब्रह्मप्राप्ति है। जीवन्मुक्त निरन्तर आत्मतत्त्व में लीन रहता हुआ ब्रह्मविद्या का परिरक्षण करता है। तपस्वी जीवन द्वारा तप की साधना होती है। उसके कार्य लोक निग्रहार्थ होते हैं अतः जीवन्मुक्ति की यह उत्तम सार्थकता कही जाएगी कि प्राणियों के कल्याणार्थ जीवन्मुक्तों का कार्य व्यवहार होता है, अन्यथा स्वयं अपने लिए उनका कोई प्रयोजन नहीं होता। साधक की आत्मसिद्धि एवं दुःखविनाश जीवन्मुक्ति के साक्षात् प्रयोजन कहे गये हैं, जो कि प्रत्यक्षदृष्ट होते हैं।

पाँचवे अध्याय में जीवन्मुक्त संन्यासी के लक्षण एवं स्वरूप का अत्यन्त विश्लेषात्मक अध्ययन प्राप्त होता है। विद्वत्संन्यास द्वारा जीवन्मुक्ति प्राप्त सन्त परमहंस कहे गए हैं। यह संन्यास प्रज्ञासम्पन्न प्राणी का संन्यास होने से सर्वोत्तम कहा गया है। निर्विकल्पक समाधि द्वारा अपने अन्तःकरण और इन्द्रियों को सर्वथा वशीभूत करके उनका दमन करने वाले संन्यासी को परमहंस की संज्ञा दी गयी है। परमहंस महान् आत्मा होता है और अपने आप में सम्पूर्ण होता है। पूर्ण रूप से संन्यस्त, जीवन और जगत् से तटस्थ निर्विकार रूप से उसकी स्थिति होती है। परमहंसोपनिषद् के व्याख्यान द्वारा ग्रन्थकार ने इस संन्यास एवम् इसके धारक संन्यासी अर्थात् विद्वत्संन्यास एवं योगी परमहंस का अत्यन्त सुन्दर रूप में निरूपण किया है।

---

१. द्रष्टव्य - यो०वा०, ३/९५ - "कर्मनाशे मनोनाशः ।"

२. "भूयो जन्मविनिर्मुक्तं जीवन्मुक्तस्य तन्मनः ।
सरूपोसौ मनोनाशो जीवन्मुक्तस्य विद्यते ।" - (यो०वा०, २/३५)

३. "न शक्यते मनोजेतुं विना युक्तिमनिन्दिताम् ।" - (यो०वा०, २/४२)

ग्रन्थ का सम्यक् आलोचन करने पर यह बात स्पष्ट हो जाती है कि विद्यारण्य ने मुमुक्ष जनों के कल्याणार्थ ही अत्यन्त सरल रूप में इस ग्रन्थ की रचना की है। संन्यास, वैराग्य, मोक्ष आदि का इतना सुस्पष्ट विवेचन अन्यत्र कम प्राप्त होता है। जीवन्मुक्ति पर लेखन कार्य करने वालों में विद्यारण्य जी को एक दृष्टि से सर्वोच्च स्थान दिया जा सकता है क्योंकि इस ग्रन्थ में मात्र 'जीवन्मुक्ति' का ही विवेचन हुआ है, जो कि अपने आप में भलीभाँति परिपूर्ण है।

योगवासिष्ठ इत्यादि ग्रन्थों में जीवन्मुक्ति का वर्णन अन्य विषयों के प्रतिपादन के साथ अंगरूप में हुआ है, जब कि इस ग्रन्थ में जीवन्मुक्ति ही अंगी या एकमात्र उपजीव्य (विषय) है, इसी के अंगरूप में वासनाक्षय, मनोनाश, संन्यास, वैराग्य आदि का वर्णन मिलता है । अतः प्रस्तुत ग्रन्थ, ग्रन्थकार की लेखनी की एक अनुपम कृति एवं मोक्षशास्त्र की एक अच्छी धरोहर माना जा सकता है ।

विद्यारण्य जी ने इसी जीवन में मुक्ति के आदर्श की जिस सुन्दर ढंग से विवेचनात्मक एवं विश्लेषात्मक शैली में प्रस्तुति की है, विद्वत् समुदाय विशेषकर संन्यासी सम्प्रदाय एवं मुमुक्ष साधकों के लिए अत्यन्त प्रेरणा एवं प्रगति का विषय है। इसी जीवन में मुक्ति की कल्पना, विद्यारण्य का नया प्रयोग नहीं था, तथापि अपने ढंग से उक्त विषय का एकाकी और वह भी सर्वांगीण विवेचन अवश्य ही नवीनतम प्रयोग किंवा विशेष अध्ययन कहा जा सकता है। डॉ० दास गुप्त का मत है कि जीवन्मुक्ति विवेक पुस्तक, कई भिन्न-भिन्न स्रोतों का संग्रह मात्र है, न कि विषय के गहन दार्शनिक विवेचन की पुस्तक।[1] इस सम्बन्ध में इतना ही वक्तव्य है कि डॉ० दास गुप्त का मत आलोच्य नहीं है, तथापि इस प्रकार का बुद्धिमत्तापूर्ण संकलन और वह भी अपने मौलिक व्याख्यान सहित प्रस्तुत करना ग्रन्थकार की विशिष्ट विद्वत्ता एवं क्षमता का ही प्रतीक है। गीता, रामायण, योगवासिष्ठ आदि से जो भी उद्धरण प्रस्तुत किए गए हैं, ग्रन्थकार के व्याख्यान के बिना अधूरे किंवा संदर्भहीन रह जायेंगे। अस्तु, विद्यारण्य का यह ग्रन्थ उनकी मौलिकता एवं ज्ञानग्राह्यता का सुन्दर निदर्शन है ।

आचार्य शङ्कर की रचनाओं में यद्यपि जीवन्मुक्ति या जीवन्मुक्त जैसे शब्द नहीं प्राप्त होते, तथापि उन्होंने इसी जीवन में अद्वैतसिद्धि किंवा परमानन्द की प्राप्ति का उल्लेख किया है । निश्चय ही अशरीरी को सुख दुःख स्पर्श नहीं करते हैं[2] और अशरीरतत्व देहपात के पश्चात् ही नहीं होता, जीवनकाल में भी होता है । शरीर होना

---

१. डॉ० दास गुप्तः भा०द०, भाग २, पृ० २४१ ।

२. छा०उ०, ४/१४/३, ५/२४/३ एवं ८/१२/१ ।

केवल मिथ्याज्ञान के कारण है। ब्रह्मवेत्ता अपने जीवनकाल में ही अशरीरी कहा गया है।[1] मृत्युकाल में उसका ब्रह्म के साथ निश्चित और नित्य अभेद हो जाता है। उस ब्रह्मवेत्ता के प्राण इस शरीर से प्रयाण नहीं करते, ब्रह्म से संयुक्त (एकाकार) होकर ही उसकी ब्रह्मावगति होती है।[2]

वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावलीकार जीवन्मुक्ति नहीं मानते। उनके अनुसार ज्ञान के बाद सद्यः मुक्ति होती है।[3] ज्ञान द्वारा सर्वकर्मनिवृत्ति का व्याख्यान कर उन्होंने संसार का बाध दिखलाया है।[4] इस संदर्भ में इतना ही कहा जा सकता है कि प्रबल प्रारब्ध के कारण अज्ञान की निवृत्ति हो जाने पर भी अविद्यालेश वेदान्त में स्वीकृत है। ज्ञानी (मुक्त) को संसार बन्धन न रह जाने पर भी प्रारब्धपर्यन्त इस जगत् में स्थित रहना पड़ता है। आत्मज्ञान होने के बाद की यह अवस्था ही जीवन्मुक्ति है, जिसमें कि आत्मज्ञानी (जीवन्मुक्त) प्रारब्धपर्यन्त भोग प्राप्तकर मृत्युकाल में परममुक्ति को प्राप्त हो जाता है। प्रायः सभी परवर्ती वेदान्तियों एवम् अन्य दार्शनिकों ने जीवन्मुक्ति को स्वीकृत किया है।

वेदान्तसार आदि ग्रन्थों में जीवन्मुक्ति का स्पष्ट उल्लेख प्राप्त होता है । श्री सदानन्द (१५६० ई०) के जीवन्मुक्तिप्रक्रिया[5] नामक ग्रन्थ में अद्वैतसम्मत जीवन्मुक्ति का ही निरूपण हुआ है।

---

१. द्रष्टव्य - ब्र०सू०शा०भा०, १/४/४।
२. बृह०उ०, ४/४/६।
३. द्रष्टव्य - वे०सि०मु०, पृ० १८० ।
(प्रकाशक - मेडिकल हाल प्रेस, बनारस, १८६० ई०)
४. द्रष्टव्य - वे०सि०मु०, पृ० १८३ ।
५. इस ग्रन्थ का उल्लेख डा० उमाशंकर शर्मा ने 'सर्वदर्शनसंग्रह' की व्याख्या में परिशिष्ट में प्रमुख दर्शनग्रन्थों की सूची में किया है ।
(द्रष्टव्य - स०द०सं०, पृ० ८६६) (प्रकाशक - चौ०वि०, १६७८ ई०)।

पंचम अध्याय

शाङ्कर वेदान्त की परम्परा और 'जीवन्मुक्तिविवेक'

जीवन्मुक्ति मानवजीवन किंवा मानवता का सर्वोच्च आदर्श है । इसी जीवन्मुक्ति के स्वरूप की विशद विवेचना में प्रस्तुत ग्रन्थ का आदि और अन्त होता है । दर्शन के साक्षात् स्वरूप किंवा परमप्रमेय मोक्ष की विवेचना प्रस्तुत करने से ग्रन्थ का दार्शनिक महत्त्व प्रश्न का विषय नहीं है, अपितु स्वतः सिद्ध है ।

विद्यारण्य जी के दार्शनिक सिद्धान्तों का स्पष्ट निदर्शन तो उनके पञ्चदशी एवं विवरणप्रमेयसंग्रह जैसे ग्रन्थों में हुआ है और स्पष्टरूपेण ये दोनों ग्रन्थ वेदान्त के श्रेणीगत ग्रन्थों की कोटि में आते हैं । जीवन्मुक्तिविवेक में किसी दार्शनिक सिद्धान्त अथवा गहन दार्शनिक विवेचन को ग्रन्थकार ने अपना ध्येय न बनाकर मात्र विषय सम्बन्धी तथ्यों को विविध स्रोतों से संकलित कर जीवन्मुक्ति को अधिकाधिक रूप में स्पष्ट करने का स्तुत्य प्रयास किया है । डा० दास गुप्त का भी यही मत है कि यह गहन दार्शनिक विवेचन की पुस्तक नहीं है ।[1] जीवन्मुक्तिविवेक के आलोचन से उक्त तथ्य स्पष्ट हो जाता है । इसके बावजूद भी मोक्ष सम्बन्धी विषय होने से यत्र-तत्र अवान्तर रूप से विद्यारण्य के दार्शनिक विचारों की झलक प्राप्त होती है । यद्यपि जीव, जगत्, माया, अविद्या, ईश्वर, कर्मसिद्धान्त आदि का विविक्त रूपेण कहीं वर्णन नहीं मिलता, तथापि मुक्ति, संन्यास, वैराग्य, साधना (उपासना किंवा ज्ञान) आदि के निरूपण में विद्यारण्य के उपरोक्त विषयक विचारों के बिम्ब देखे जा सकते हैं ।

शाङ्कर परम्परा को इस ग्रन्थ की सर्वाधिक महत्वपूर्ण देन यह है कि जहाँ शाङ्कर वेदान्त साहित्य में विपुलकाय एवं प्रकरणग्रन्थों के रूप में अनेक ग्रन्थ विद्यमान हैं, वहाँ जीवन्मुक्ति का विविक्तरूप से सर्वाङ्गीण चित्र प्रस्तुत करने वाला यह अनुपम प्रकरण ग्रन्थ है। जहाँ अन्यान्य ग्रन्थों में विविध दार्शनिक विषयों की गहन से लेकर गहनतम गवेषणाएं हुई हैं, वहाँ इस प्रकार के स्फुट तथापि शङ्करसम्मत जीवन्मुक्ति जैसे उत्तम सिद्धान्त के प्रदर्शक रूप इस ग्रन्थ का अपना अस्तित्व (महत्त्व) है।

१. डा० दास गुप्त : भा०द०, भाग २, पृ० २४१ ।

जीवन्मुक्ति की कल्पना स्वयं एक दार्शनिक सिद्धान्त के रूप में मान्य हुई है और प्रस्तुत ग्रन्थ में इसी दार्शनिक कल्पना किंवा तथ्य को साकार रूप प्रदान किया गया है । अस्तु यह ग्रन्थ स्वयं एक दार्शनिक सिद्धान्त के स्वरूप को स्फुट करते हुए प्रस्तुत हुआ है, भले ही यहाँ गहनतम गवेषणा का अभाव हो । विषय के अनुसार मुक्ति, संन्यास एवं वैराग्य सम्बन्धी जैसा विवेचन श्री विद्यारण्य ने प्रस्तुत किया है, वैसा अन्यत्र प्राप्त होना दुर्लभ है ।

विद्यारण्य का सिद्धान्त है कि जीवन्मुक्ति वह है, जिसमें आत्मतत्त्व का साक्षात्कार हो जाए, अभ्यास के आधिक्य से मिथ्याज्ञान का विनाश हो जाए, किन्तु प्रारब्ध कर्म को भोगने के लिए शरीर-धारण किया जाए । इसे अपर मुक्ति भी कहते हैं । सभी दार्शनिक इसे स्वीकार करते हैं। रामानुज आदि नहीं मानते, यह दूसरी बात है। वैष्णव सम्प्रदाय के अनुसार सकल बन्धन निवृत्तिरूपा मुक्ति जीवित दशा में नहीं प्राप्त हो सकती, अतः रामानुज दर्शन में केवल विदेहमुक्ति ही सम्भव है। विद्यारण्य ने शङ्करसम्मत यह विचार प्रस्तुत किया है कि अज्ञाननाश हो जाने पर इस शरीर में ही साधक ज्ञानलाभ किंवा आत्मप्राप्ति (मुक्तिलाभ) करता है। ज्ञानी को अशरीरत्व होता है, उसके कर्म बन्धनकारी नहीं रह जाते । राग-द्वेष एवम् अन्य द्वन्द्वों के अभाव में परमतत्त्व में लीन साधक सर्वतन्त्रस्वतन्त्र अविद्याबन्धनविनिर्मुक्त होता है। इस शरीर में ही वह अमरत्व की प्राप्ति करता है । रसेश्वर दर्शन में इसी देह में अमरत्व सिद्धि को जीवन की धन्यता माना गया है । रसेश्वर के अनुयायियों का कहना है कि जीवन्मुक्ति का वास्तविक आनन्द वे लोग ही जानते हैं, क्योंकि शरीर को बिना अमर किये अनन्त जीवन्मुक्ति नहीं हो सकती । इस अजरता अमरता की प्राप्ति हेतु पारद रस का प्रयोग उन्हें मान्य है, बिना वैसा किये जीवन्मुक्ति नहीं मिलती ।[1]

छह दर्शनों में जीवन्मुक्ति का निर्देश होने पर भी प्रायः शरीरनाश के बाद ही वास्तविक मुक्ति का कथन हुआ है । इससे प्रतीत होता है कि जीवन्मुक्ति के प्रति पूर्व दार्शनिकों का विशेष लगाव नहीं था । इसके बावजूद भी जीवन्मुक्ति का औपनिषद सिद्धान्त योगवासिष्ठ जैसे वरेण्य ग्रन्थों का मुख्य प्रतिपाद्य रहा है। उसी जीवन्मुक्ति की प्रस्तुति में श्री विद्यारण्य जी ने अपनी सम्पूर्ण शक्ति को लगाकर केवल जीवन्मुक्ति के प्रतिपादक इस ग्रन्थ को प्रणीत कर दर्शन के क्षेत्र में जीवन्मुक्ति सिद्धान्त को प्रतिष्ठित कर दिया है ।

---

१. द्रष्टव्य - स०द०सं० ; रसेश्वर-दर्शन ।

श्री विद्यारण्य जी हाथ में रखे हुए आंवले के समान मुक्ति के प्रत्यक्ष फल को मानते हैं । श्रवण, मनन और निदिध्यासन की साधना से आत्मदर्शन करने वाला सिद्ध पुरुष इसी जीवन में जीवन्मुक्ति रूप परमपुरुषार्थ की उपलब्धि करता है । संग (आसक्ति) के अभाव में जीवन्मुक्ति प्राप्त व्यक्ति के क्लेश (दुःख) का व्युत्थान (विनाश) हो जाता है । पूर्णता प्राप्त महापुरुष ही स्वरूप की उपलब्धि करके जीवन्मुक्त कहा जाता है ।

वासना के विलय हो जाने पर एवं तत्त्वज्ञान के प्रभाव से संगनाश हो जाने से स्वयं ही व्युत्थान विलीन हो जाता है । वह महापुरुष सशरीर भी ब्रह्मस्वरूप होता है। प्रारब्ध कर्मों के भोग हेतु अपने शरीर को कुम्हार के चक्र की भाँति कुछ काल के लिए जीवित देखता है, अन्यथा उसके लिए शरीर की स्थिति और अभाव समान ही हैं । वह जीवित ही मुक्त (जीवन्मुक्त), निःश्रेयस पद को प्राप्त करता है ।

देहादि में इस अवस्था में आत्माभिमान नहीं रहता तथा विकल्पहीन स्वात्मबोध खुल जाता है । इसलिए देह रहने पर भी न रहने के बराबर ही ज्ञान होता है । यन्त्रवत् मात्र उसकी स्थिति होती है । जीवन्मुक्त का सुख-दुःखानुभव प्रारब्धकर्म के अनुसार होता है । परन्तु इस अनुभव में उसकी मुक्ति के विषय में संदेह का कोई कारण नहीं है ।

'ज्ञान ही मुक्ति का हेतु है' इस सिद्धान्त की प्रतिष्ठा ग्रन्थकार ने की है। तत्त्वज्ञानी ही मुक्ति के अधिकारी हैं, यह वात सिद्ध की गयी है । इस ज्ञान की उत्पत्ति के लिए ही वासना का परित्याग और मनोनिग्रह साधन कहे गए हैं । मुक्ति प्राप्ति हेतु सांसारिक सुख से वैराग्य लेना पड़ता है । इस वैराग्य का हेतु संन्यास है । विद्यारण्य का सिद्धान्त है कि यह संन्यास ही मुक्ति का परिमाप है अर्थात् संन्यास की साधना ही मुक्ति की साधना है । यह साधना एक बौद्धिक जिज्ञासा मात्र नहीं वरन् सम्पूर्ण आत्मा का अनवरत अध्यवसाय है । मोक्ष की संसरणशून्य स्थिति और कर्म तथा भोग के त्याग-रूप संन्यास का मोक्षसाधना में परमस्थान है । आध्यात्मिक साधना में संयम एवं संन्यास का अत्यन्त महत्त्व [illegible] है ।

अज्ञान, बन्धन का मूल कारण होने से ज्ञान द्वारा ही बाध्य होता है । अविद्या का उच्छेद विद्या से ही सम्भव है । अतः किसी न किसी रूप में ज्ञान को ही सभी भारतीय दर्शनों में मोक्ष का सामान्य साधन माना गया है । इस ज्ञान की साधना स्वयं में अत्यन्त दुष्कर और दुर्लभ है । कृपाण की धारा पर प्रधावन के समान ज्ञानार्जन

अत्यन्त दुष्कर माना गया है । इस ज्ञान के सम्पादन के लिए ही त्याग और संयम रूप संन्यास आश्रम स्वीकार किया जाता है । तीव्र वैराग्य होने पर ही संन्यासाश्रम ग्राह्य कहा गया है ।

विद्यारण्य का सिद्धान्त है कि काम्य कर्म के त्याग रूप संन्यास में स्त्रियों का भी अधिकार है और इस प्रकार उनके अन्वेषण का जातीय पक्षपात से रहित स्वभाव साधनसम्पन्न सम्पूर्ण मुमुक्षु सम्प्रदाय को संन्यास की साधना से सम्बद्ध करता है ।

उपासना को भी मोक्षसाधन के रूप में स्वीकृति प्राप्त हुई है । विद्यारण्य श्रुति के आधार पर प्रतिपादित करते हैं कि आत्मरूप लोक की उपासना करने वाला उपासक इच्छित सर्वोत्तम फल मोक्ष की प्राप्ति करता है ।

जीवन्मुक्ति की सिद्धि हेतु दिये गये उनके तर्क मोक्षशास्त्र की अनुपम धरोहर हैं। उनके अनुसार – 'अस्तित्व का अन्त, जीवन का चरम लक्ष्य नहीं हो सकता। क्रियाहीनत्व किंवा पूर्ण अलगाव (विभेद की अवस्था किंवा क्रियाशून्यावस्था) को किस प्रकार मुक्ति की अवस्था कहा जा सकता है ? जीवन एवं सम्पूर्ण क्रियाओं से अलगाव मोक्ष नहीं है, अपितु इसी जीवन में नित्य निरन्तर साधना करते हुए परमतत्त्व की उपलब्धि ही मोक्ष है।'

विद्यारण्य का मत है कि त्याग और संयम की भावना ही संन्यास का वास्तविक रूप है । यह भावना रूप संन्यास जीवन की उपेक्षा नहीं वरन् उसकी परिष्कृति है । जीवन के कर्म और व्यवहार से इस संन्यास का कोई असामंजस्य नहीं है। संन्यासी भी जीवनधारणार्थ एवं लोकनिग्रहार्थ कर्म करने में अधिकृत है।

वासनाओं का परित्याग, पौरुष प्रयत्न एवं विवेक द्वारा होता है । वैराग्यवान् पुरुष की जब संसार के किसी भोग पदार्थ में आस्था ही नहीं होती, तब वह परमात्मा के परमपद का अधिकारी हो जाता है ।

मनोनिग्रह, जीवन्मुक्ति के हेतुओं में एक है । विद्यारण्य के अनुसार मन का विनाश नहीं, अपितु उसका आध्यात्मिकीकरण ही कर्तव्य है । परिष्कृत मन चैतन्य का परमतत्त्व बन जाता है अर्थात् शुद्ध ब्रह्म बन जाता है । इस प्रकार सम्पूर्ण दृश्य और द्रष्टा के भेदों एवं सम्बन्धों से मुक्त होकर ब्रह्म अथवा शिव हो जाता है । मन और आत्मा का बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध है परन्तु वह दोनों संसार में माया के बन्धन से एकदूसरे से अलग हो जाते हैं । तीव्र वैराग्य द्वारा विषयवासना के समूल नष्ट हो जाने

पर मन की उपरामता प्राप्त होती है । आत्मशक्ति में एकाग्र मन आत्मज्ञान किंवा तत्त्वचिन्तन द्वारा मोक्ष प्राप्ति का साधन है।

ग्रन्थकार ने शङ्कर सम्मत अद्वैतसिद्धान्तों का सौम्यरूपेण पोषण किया है। 'ज्ञान ही मुक्ति का हेतु है, कर्म नहीं' यह शाङ्कर सिद्धान्त ग्रन्थ के आलोचन से सुस्पष्ट हो जाता है । यद्यपि ग्रन्थकार योगवासिष्ठ ग्रन्थ से परम प्रभावित थे, तथापि उन्होंने स्वसिद्धान्त सम्मत जीवन्मुक्ति विषयक विचारों को तो उससे उद्धृत किया है, किन्तु मोक्षसाधन के रूप में अद्वैतसम्मत ज्ञान मात्र की मान्यता के कारण योगवासिष्ठ सम्मत ज्ञानकर्मसमुच्चयवाद' को उन्होंने मान्यता नहीं प्रदान की है । उनका स्पष्ट मत है कि आत्मचिन्तन से ही ब्रह्मज्ञान होता है, अतः आत्मज्ञान ही मोक्ष का सर्वोपरि साधन है । जब तक आत्मतत्त्व का ज्ञान नहीं होता, स्वरूपनिष्ठा का प्रश्न ही नहीं उठता। आत्मज्ञान अनिवार्य है। राजा जनक के पास सब कुछ होते हुए भी उनको शान्ति नहीं थी परन्तु जब अष्टावक्र मुनि ने उनको आत्मबोध कराया, तभी वे विवेकी और विदेही हुए । इसी प्रकार अर्जुन ज्ञानी और वीर योद्धा थे, उनके साथ साक्षात् ईश्वरीय अवतार श्रीकृष्ण रहते थे परन्तु फिर भी उनको शान्ति नहीं मिली थी । श्रीकृष्ण जी के (विराट् स्वरूप प्रदर्शन एवम् आत्मतत्त्वविवेचन द्वारा) आत्मज्ञान कराने पर ही अर्जुन के मन में परम शान्ति हुई थी ।

आत्मज्ञान की साधना हेतु विद्यारण्य ने सम्पूर्ण वासनाओं के विनाशपूर्वक मनोनिग्रह को साधनरूप में प्रस्तुत किया है । तीव्रतर वैराग्यवान् संन्यासी ही मुक्ति का अधिकारी घोषित किया गया है । उसकी परमहंस संज्ञा होती है । विद्यारण्य ने बहुत से ग्रन्थों का उल्लेख करके यह प्रमाणित किया है कि संन्यास दो भिन्न श्रेणियों (विविदिषासंन्यास एवं विद्वत्संन्यास) का होता है, यद्यपि एक का विकास दूसरे में हो जाता है ।

अज्ञान नाश होने पर सम्पूर्ण अध्यास का विनाश होकर शुद्ध चिन्मात्र (स्वस्वरूप) की उपलब्धि होती है। यह विचार विवर्तवाद का ही प्रतीक है ।

जीवन्मुक्ति प्राप्त प्राणी का तत्त्वज्ञान स्थिर होने से भावासक्ति के अभाव में, उसके कार्य - चाहे वे स्वार्थ हों या परार्थ, बन्धनकारी नहीं होते । जगत् की असत्यता के सम्बन्ध में दृढ़ ज्ञान हो जाने से कार्य करते हुए अथवा न करते हुए भी नित्य निरन्तर आत्मस्वरूप में ही स्थित उस सिद्ध पुरुष को परम आनन्द की अनुभूति हुआ

१. द्रष्टव्य - यो०वा०, १/१/७, ८ ।

करती है । यही परमानन्द की अनुभूति मानवजीवन का चरम उद्देश्य है ।

साधक की आत्मरति और प्रबल प्रयत्न (पुरुषार्थ) ही परमगति के साधक हैं। सम्पूर्ण दुर्वासनाओं की समाप्ति हो जाने पर शुद्ध मन का आत्मतत्त्व में लीन हो जाना ही आत्मरति है । शम दम आदि की साधना, सत् शास्त्रों का श्रवण और सत् संग ही पुरुष प्रयत्नरूप पुरुषार्थ है ।

योग की विविध क्रियाएं साधनाक्रम में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं। प्राणायाम, ध्यान, समाधि आदि इन विविध योगांगों का विद्यारण्य ने ज्ञानसाधना (मुक्तिमार्ग) में महनीय योगदान निरूपित किया है । चित्तनिरोध रूप योग की सिद्धि ही जीवन के परमपुरुषार्थ के रूप में निरूपित हुई है।

प्रपञ्च के मिथ्यात्व का विचार इससे ही स्पष्ट हो जाता है कि आत्मज्ञान होते ही सम्पूर्ण बन्धन की निवृत्ति हो जाती है । शरीरधारण एवम् इन्द्रियादि के व्यवहार का भी ज्ञानी के लिए जगत्-मिथ्यात्व की प्रतीति हो जाने से अस्तित्व नहीं रह जाता। उसके सम्पूर्ण कर्म क्षीण हो जाते हैं । प्रारब्धपर्यन्त स्थितिकाल में भगवद्भाव से जीवनयापन करते हुए परमनिःश्रेयस में उसका अवसान होता है ।

विवरण सम्प्रदायी होने से विद्यारण्य ने जीव को ब्रह्म का प्रतिबिम्ब माना है । इस प्रतिबिम्ब का आधार अविद्योपाधि है, जिसके विनष्ट हो जाने पर शुद्ध ब्रह्म मात्र की उपलब्धि होती है । वस्तुतः यही जीव का अपना निजी स्वरूप है, यही उसकी आत्मा है । जीव संज्ञा तो अविद्योपाधि के कारण ही प्राप्त होती है। ज्ञान (विद्या) द्वारा अज्ञान (अविद्या) का उन्मूलन हो जाने पर अपने सत् रूप में प्रतिष्ठित हो जाना ही जीव की परम गति है । अद्वैत बुद्धि का जागरण ही ज्ञान है । इसी अभेद बुद्धि के जागृत होने पर जीव मोक्ष प्राप्त कर लेता है, आवागमन के चक्र से सार्वकालिक निवृत्ति हो जाती है ।

अद्वैत दर्शन की परमप्रमाण श्रुतियाँ हैं । ग्रन्थकार ने विषय सम्बन्धी श्रुतियों को इस प्रकार चुन-चुन कर प्रस्तुत किया है कि किसी भी प्रकार की शङ्का के लिए किंचिदपि स्थान नहीं रह जाता। श्रुति संकलन में जहाँ बृहदारण्यक और छान्दोग्य जैसे परम प्रचलित एवं सुप्रतिष्ठित उपनिषदों के वाक्यों को उद्धृत किया गया है, वहीं ब्रह्मबिन्दूपनिषद्, मुक्तिकोपनिषद्, नारायणोपनिषद् एवं परमहंसोपनिषद् आदि अल्प प्रचलित एवं स्वल्प प्रकाशित तथापि ब्रह्मविद्या के परम उपयोगी उपनिषदों से भी प्रामाणिक तथ्य उद्धृत किये गये हैं । विद्यारण्य का मत है कि श्रुति मात्र प्रमाणित ब्रह्म

का अपरोक्ष ज्ञान होता है । जीव अविद्या से संसक्त होकर अपने सत् एवं चित् स्वरूप को भूल जाता है । सत्य का साक्षात्कार हो जाने पर उसकी मुक्ति हो जाती है । ज्ञान प्राप्त जीव को जीवनमुक्त कहा गया है । वह संसार में रहते हुए भी संसार से मुक्त हो जाता है । यही विचार आचार्य शङ्कर का है ।[1]

माया और अविद्या में कोई अन्तर नहीं है। शङ्कराचार्य ने दोनों को एक-दूसरे के पर्याय के रूप में प्रयुक्त किया है । परन्तु शङ्कर के परवर्ती अद्वैताचार्यों ने माया और अविद्या में भेद कर दिया है । इस संदर्भ में स्वामी विद्यारण्य का मत है कि अविद्या जीव से सम्बन्धित है और माया का सम्बन्ध ब्रह्म से है । माया शुद्ध सत्त्वप्रधाना है और ईश्वर की उपाधि है जब कि अविद्या मलिन सत्त्वप्रधाना है और जीव की उपाधि है। विद्यारण्य जी के ये विचार यद्यपि पञ्चदशी[2] में स्पष्टरूपेण प्रस्फुट हुए हैं, तथापि आलोच्य ग्रन्थ में भी जगह-जगह पर ज्ञान द्वारा अज्ञान नाश आदि विवरणों से जीव एवम् अज्ञान के उपरोक्त सम्बन्ध की झलक प्राप्त होती है ।

विद्यारण्य जी ने ब्रह्म से तादात्म्य हेतु संन्यास एवं वैराग्य की जिस साधना पर बल दिया है, उसका अपना महत्त्व है । विरक्त संन्यासी कर्मबन्धन से मुक्त होने पर भी मानवता के उत्थान के लिए कर्मरत होता है । आचार्य शङ्कर स्वयं इसके साक्षात् उदाहरण थे । अस्तु इस संदर्भ में विचिकित्सा नहीं है कि विरक्त योगी (जीवन्मुक्त) दार्शनिक बोध को प्राप्त करने के बाद भी कर्मप्रधान जीवन व्यतीत कर सकता है ।

इस प्रकार स्पष्ट है कि विद्यारण्य न केवल वेदान्त के अद्वैत सिद्धान्त के संरक्षक (पोषक) थे, अपितु वेदान्ती प्रत्ययों के व्याख्याता भी थे ।

उनका स्पष्ट मत है कि ब्रह्म या आत्मा ही एकमात्र तत्त्व (सत्य) है, इसके अतिरिक्त सब प्रतीयमान जगत् अज्ञान का फल है । यह एक अज्ञान अनन्त विध प्रतीतियों की व्याख्या करता है । ब्रह्म को आश्रय एवं विषय बनाकर यही अज्ञान अनेक रूपों में इस विश्व का विधान करता है । अतः द्रष्टा एवं दृश्यरूप में विद्यमान अनेक प्रतीतियों का हेतु यही अज्ञान है । यहाँ यह स्पष्ट रूप से जान लेना चाहिए कि ये अनन्त प्रतीतियाँ व्यवहार मात्र सत्य हैं । परमार्थ दृष्टि से इनका कोई अस्तित्व नहीं है क्योंकि अज्ञान का फल होने से ये मिथ्या हैं । अतः अद्वितीय ब्रह्म इस

---

१. द्रष्टव्य - ब्र०सू०शा०भा०, ३/३/३२ ।

२. द्रष्टव्य - पञ्च, १/१६, १७ ।

अनिर्वचनीय अनादि अज्ञान से सम्बद्ध होकर विविध रूपों में प्रतिभासित होता है। वस्तुतः उसके (ब्रह्म के) स्वरूप में किसी भी प्रकार का परिवर्तन सम्भव नहीं है और इसीलिए बन्ध और मोक्ष की कल्पना भी अज्ञानोपहित प्राणी के लिए ही है । वस्तुतः न तो बन्धन ही होता है और न मोक्ष ही ।

'अविद्या से मुक्त आत्मा ही मोक्ष का वास्तविक स्वरूप है' इस सिद्धान्त का ही विवेचनात्मक एवं विश्लेषणात्मक शैली में विद्यारण्य ने स्थापन किंवा मण्डन किया है । 'मनुष्य इसी जीवन में ब्रह्मज्ञान या आत्मसाक्षात्कार कर सकता है' इसी विचार की पुष्टि में ग्रन्थकार ने तमाम शास्त्रों के उद्धरणों को प्रस्तुत कर जीवन्मुक्ति के सिद्धान्त की अनुपम व्याख्या की है ।

जीवन्मुक्ति के जिस सिद्धान्त को आचार्य शङ्कर ने मान्यता तो प्रदान की थी, किन्तु जिस पर अधिक प्रकाश न डाल सके थे अर्थात् जिसे सुस्पष्ट नहीं किया था, अद्वैत दर्शन के उसी वरेण्य सिद्धान्त को पूर्णतया विविक्त कर विद्यारण्य ने पाण्डित्य के साथ अत्यन्त सुबोध सरल एवम् अपूर्व रूप में जिस ढ़ंग से निरूपित किया है, अद्वैत परम्परा में वह अत्यन्त सम्मान एवं श्रद्धा का विषय है ।

जगत् के मिथ्यात्व का सिद्धान्त अद्वैत वेदान्त का महत्त्वपूर्ण अंग है । द्वैतवाद के खण्डन के साथ-साथ जगत् के मिथ्यात्व का समर्थन करने वाले स्वामी विद्यारण्य ने संन्यास एवं वैराग्य की साधना को प्रधानता प्रदान की है ।

'जीवन्मुक्तिविवेक' ग्रन्थ का महत्त्व

शाङ्कर वेदान्त में मोक्षवाद का निरूपण अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है । जीवन्मुक्तिविवेक इसी मोक्ष सिद्धान्त की विवेकशील एवं पाण्डित्यपूर्ण व्याख्या प्रस्तुत करने वाला एक महनीय ग्रन्थ है । विद्वद्वरेण्य इस ग्रन्थ में जीवन्मुक्ति के सिद्धान्त की विवेचनात्मक शैली में विशद व्याख्या प्रस्तुत की गयी है । शङ्करसम्मत जीवन्मुक्ति के सिद्धान्त का जिस मौलिकता, गम्भीरता एवं विद्वत्ता के साथ शास्त्रानुसारी ढंग में इस ग्रन्थ में निरूपण हुआ है, वस्तुतः वह अत्यन्त स्पष्ट, परम उपादेय एवं सुविज्ञेय है ।

विद्यारण्य की विषय प्रतिपादन शैली अत्यन्त मनोरम है । वैदुष्यपूर्ण इस प्राञ्जल पुस्तक में प्रबन्धात्मक शैली में छोटे-छोटे वाक्यों में धीरगम्भीर अर्थयुक्त प्रलेख प्राप्त होता है । संन्यास आदि की सुस्पष्ट प्रौढ़ विवेचना हुयी है ।

संन्यास एवं वैराग्य का प्रतिपादक मोक्षशास्त्र का यह महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। जहाँ विद्यारण्य की अन्य रचनाओं में विविध अद्वैतसिद्धान्तों की तार्किक एवं विशद व्याख्या प्रस्तुत की गयी है, वहाँ प्रकृत ग्रन्थ में सरल, सुबोध शैली में विशिष्ट अभिव्यंजना के साथ सार्थकतापूर्ण ढंग से जीवन्मुक्ति के सिद्धान्त का दार्शनिक विवेचन हुआ है । आद्योपान्त जनसुलभ वक्तव्य के रूप में इस ग्रन्थ का निर्माण हुआ है । एक ही विचारधारा के प्रस्तुतीकरण में विविध ग्रन्थों के उपादेय वाक्यों को उद्धृत कर गद्य और पद्य के सुन्दर समन्वय के रूप में ग्रन्थकार ने मुक्ति के जिस उत्तम आदर्श का उद्घोष किया है, मुमुक्ष सम्प्रदाय में वह अत्यन्त आदर का विषय है । सम्पूर्ण ग्रन्थ पाठक की जिज्ञासा को शान्त करने वाली ज्ञानमञ्जूषा है। विद्यारण्य की भाषा अत्यन्त लालित्यपूर्ण और शब्द चयन अत्यन्त सुमधुर है। उनके प्रयोग अपने अभिप्राय के निर्वचन में पूर्ण समर्थ हैं।

एक विशिष्ट दार्शनिक परम्परा में होते हुए भी बुद्धि एवं विचारों की मौलिकता उनके सभी ग्रन्थों में प्राप्त होती है । उनकी कृतियों में उनकी मौलिक प्रतिभा एवं मेधा का मुक्त उल्लास देखने को मिलता है । उन्होंने अपने विचारों को एक व्यवस्थित एवं पारिभाषिक पदावलियों में एक विशेष शैली में प्रस्तुत किया है । उनकी शैली में उनके मानसिक गुण, तर्कशक्ति एवं मनोभाव प्रतिबिम्बित होते हैं । आचार्य शङ्कर के बाद साहित्य एवं धर्म के महान् पोषक के रूप में उन्हें प्रतिष्ठित किया जा सकता है।

आलोच्य ग्रन्थ का मोक्षसिद्धान्त के निरूपण की दृष्टि से विशेष महत्त्व है। जीवन्मुक्ति के सिद्धान्त का निःशेष रूप से उद्घाटन करने वाला यह ग्रन्थ विद्यारण्य की दार्शनिक प्रतिभा का विशिष्टरूपेण परिचायक है । विद्यारण्य स्वयं जीवन्मुक्त महात्मा थे, सत् शास्त्रों के अध्ययन अध्यापन एवं लोकोपकार में उन्होंने अपना जीवन लगाया था । इस ग्रन्थ की रचना में अपनी आत्मानुभूति के साथ जीवन्मुक्ति के सिद्धान्त की जो व्याख्या उन्होंने प्रस्तुत की है, वह अत्यन्त आनन्दप्रदायिनी एवं प्रेरणाप्रद है । उनका मत है कि आत्मदर्शन करने वाला प्राणी कृतकृत्य हो जाता है, वह संसार के सारे माया बन्धनों से मुक्त हो जाता है । उसके अनासक्त कर्म उसकी साधना के सहायक होते हैं और इन्हीं के द्वारा वह जीवन के सर्वोत्तम फल मोक्ष की उपलब्धि करता है ।

जीवन्मुक्त पुरुष वह है जिसके काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि विकाररूप अन्धकार का आत्मज्ञान के प्रकाश में नाश हो जाता है और जो सच्चिदानन्दस्वरूप-अमूर्त चैतन्यघन परमानन्द का ही रसास्वादन करता है । वह सत्पुरुष लोकसंग्रह के

लिए किये जाने वाले शास्त्रसम्मत कर्म और सत् शास्त्रों के स्वाध्याय, सद्विचार, सत्संग, शम, दम, तितिक्षा, उपरति, शौच, संतोष, ईश्वरध्यान और संयम रूपी कर्मों में प्रवृत्त रहता है । उसकी अन्तर्मुखी वृत्ति निरन्तर आत्मस्वरूप परमात्मा में तल्लीन रहती है और उसे सुख-दुःख आदि का बोध नहीं होता । संसार के व्यवहार में तत्पर रहता हुआ भी वह ब्रह्मस्वरूप ही होता है । अद्वैत दृष्टि होने से आत्मस्वरूप में ही उसकी स्थिति होती है ।

विद्यारण्य के ये वर्णन आत्मा के सत् चित् और आनन्दस्वरूप की प्रतिष्ठा कर ज्ञान द्वारा अज्ञान के समूलोन्मूलन के सिद्धान्त को प्रस्थापित करते हैं ।

वैराग्य एवं संन्यास का निरूपण भी इस ग्रन्थ को विद्यारण्य की अन्य रचनाओं से पृथक् एक विशेष रूप में प्रस्तुत करता है । अद्वैतदर्शन के लिए अविद्या का नाश अनिवार्य शर्त है । ज्ञान द्वारा चित्त की उपरामता प्राप्त होने पर ही अविद्या का नाश होता है । त्याग और संयम रूप संन्यास ज्ञान साधना का परम अपेक्षित अंग है । यह संन्यास भी तीव्र वैराग्य (आसक्ति के आत्यन्तिक अभाव) होने पर ही सम्भव होता है। वैराग्य की पराकाष्ठा जीवन्मुक्त महात्माओं में पायी जाती है, जिन्होंने परमात्म रस में डूबकर विषय रस से अपने को सर्वथा मुक्त कर लिया होता है । ऐसे जीवन्मुक्त उत्तम कोटि के - परमहंस संन्यासी कहे गये हैं ।

विद्यारण्य का पञ्चदशी एक लोकप्रिय अद्वैतग्रन्थ है । अद्वैत सिद्धान्तों - माया, अविद्या, जीव, ब्रह्म, बन्धन, मोक्ष, ईश्वर आदि की इस ग्रन्थ में अत्यन्त स्पष्ट एवं सुबोध शैली में व्याख्या हुई है । इसी प्रकार विवरणप्रमेयसंग्रह एक व्याख्या ग्रन्थ है जिसमें प्रशस्तरूपेण तर्क शैली में विद्यारण्य का पाण्डित्य प्रस्फुटित हुआ है। इन दोनों ग्रन्थों का विषय अपेक्षाकृत अधिक विस्तृत होने से एवम् अनेक सिद्धान्तों की व्याख्या होने से निश्चित रूप से ये दोनों ग्रन्थ, आलोच्य ग्रन्थ की अपेक्षा अधिक प्रचलित एवं प्रतिष्ठित हुए हैं, तथापि अद्वैत के मात्र एक सिद्धान्त की व्याख्या प्रस्तुत करने वाला एवम् अपेक्षाकृत लघुकाय यह ग्रन्थ भी अपने रूप के अनुसार विद्वानों द्वारा प्रतिष्ठित एवं मान्य हुआ है। इसी जीवन में मुक्ति के स्वरूप की विवेचना में इस ग्रन्थ की प्रकृति होने से मोक्ष, मोक्षसाधन, संन्यास, वैराग्य आदि का तो विषय की संगति होने से निरूपण मिलता है, किन्तु अन्य अद्वैतसिद्धान्तों का स्वाभाविक अभाव पाया जाता है।

विद्यारण्य का यह ग्रन्थ विविध ग्रन्थों की स्वसम्मत उक्तियों (उद्धरणों) की एक सुन्दर झाँकी प्रस्तुत करता है । उच्च आध्यात्मिक विचारों का इतना सरल और

रुचिकर निरूपण अत्यन्त अनूठा है । इस ग्रन्थ का मुख्य उद्देश्य जिज्ञासु पाठकों के प्रति परमकल्याण के स्वरूप की स्पष्ट व्याख्या प्रस्तुत करना है । इस प्रयास में ग्रन्थकार ने अपनी सामर्थ्य भर दौड़ लगाकर प्रभूत सामग्री प्रस्तुत की है। अद्वैत सिद्धान्त का संरक्षक यह ग्रन्थ जीवन्मुक्ति के सिद्धान्त का परम प्रकाशक है। प्रेरणा एवम् उत्थानप्रदायक इस ग्रन्थ में अद्वैत दर्शन के मोक्षसिद्धान्त का अत्यन्त विशद विवेचन हुआ है।

एक जीवन दर्शन प्रस्तुत करने के कारण भी इस ग्रन्थ का वैशिष्ट्य सिद्ध है और इसी दृष्टि से डा० दास गुप्त ने इसे एक आचार सम्वन्धी पुस्तक माना है ।[1] इसमें मुमुक्षु साधकों एव संन्यासियों के कर्तव्यों का अत्यन्त विस्तारपूर्वक विश्लेषण किया गया है। संन्यासियों के विविध रूप एवम् उनकी स्थिति का विस्तृत विवरण प्राप्त होता है। आत्मसाक्षात्कार के साधन रूप में ज्ञान (आत्मज्ञान) को मान्यता प्रदान की गयी है और इस प्रकार आचार्य शङ्कर के ज्ञानैक लभ्य ब्रह्म के सिद्धान्त की पुष्टि की गयी है । ज्ञान प्राप्ति हेतु शास्त्र के अध्ययन एवं सद्गुरु के उपदेश का निर्वचन किया गया है। विचारपूर्वक तत्त्वज्ञान की उपलब्धि होने पर आत्मा का स्वयंप्रकाशस्वरूप स्वतः प्रकट हो जाता है ।

जीवन्मुक्ति का सिद्धान्त स्पष्ट करता है कि ब्रह्मज्ञान प्राप्त कर लेने के बाद भी प्रारब्ध कर्मभोगपर्यन्त शरीर रहता है और सामान्यरूपेण उसकी चर्याएं भी संचरित रहती हैं किन्तु साधक मोक्ष प्राप्त कर चुकने के कारण नये कर्मों में लिप्त नहीं होता। पूर्व कर्मों के पूर्ण होकर समाप्त हो जाने पर उसे इस मरणधर्मा शरीर से भी मुक्ति मिल जाती है । इसे ही विदेहमुक्ति कहा गया है, इसकी प्राप्ति हो जाने के बाद साधक संसरण से पूर्णतया मुक्त हो जाता है ।

जीवनमुक्त के लिए समस्त प्रपंच समाप्त हो जाता है । वह स्वतः प्रकाश आत्मज्ञानस्वरूप हो जाता है और उस स्थिति में अन्य समस्त स्थितियाँ विलीन (विलुप्त) हो जाती हैं। चरम ज्ञान के कारण उसके अनादि पूर्व जन्मों के सारे कर्म नष्ट हो जाते हैं, माया एवं तत्कार्य से उसकी विरक्ति (अनासक्ति) हो जाती है जिससे कि उसमें किसी भी प्रकार के लौकिक बोध कर्म या भावना की उत्पत्ति नहीं होती। पञ्चदशी में भी विद्यारण्य ने यही विचार व्यक्त किया है कि द्वैत के सम्यक् अनादरित

---

१. द्रष्टव्य - डा० दास गुप्त : भा०द०, भाग २, पृ० २०८।

होने पर अद्वैत तत्त्व में स्थित हुआ व्यक्ति ही जीवन्मुक्त होता है।[1] इस स्थिति को ही ब्राह्मी स्थिति कहा गया है, जिसको प्राप्त हुआ मनुष्य पुनः भ्रमित नहीं होता और अन्त में विदेहमुक्तिमय ब्रह्मनिर्वाण को प्राप्त करता है।[2]

अतः जीवित दशा में ही अद्वैत, ब्रह्मस्वरूप में स्थित हुआ व्यक्ति जीवन्मुक्त कहलाता है । प्रपंच की प्रतीति से सर्वथा विनिर्मुक्त ब्रह्मभूत प्राणी विदेहमुक्त कहलाता है । ब्रह्मवित् का पुनर्जन्म न होना ही ब्रह्मज्ञान का फल है क्योंकि ब्रह्मज्ञानी स्वयं ब्रह्म हो जाता है । अतः जन्म मृत्यु के बन्धन से सर्वथा मुक्त आत्मस्वरूप का लाभ ही वास्तविक मुक्ति है । जीवन्मुक्ति के सुख की प्राप्ति के लिए ही आत्मज्ञानी का शरीर धारण होता है, अन्यथा कामना एवं बन्धन के अभाव में शरीरधारण का भी कोई प्रयोजन नहीं होता ।

ज्ञान साधन के रूप में कर्मों को मान्यता प्राप्त हुई है । वैराग्यसहित तीव्रजिज्ञासापर्यन्त कर्म, कर्तव्य हैं । बाद में उनका त्याग रूप संन्यास कर्तव्य है।

विद्यारण्य ने जीव को ब्रह्म का प्रतिबिम्ब माना है । अतः ज्ञान द्वारा अज्ञान रूप उपाधि के विनष्ट होने पर प्रतिबिम्ब का अभाव हो जाता है। तत्त्वज्ञानी पुरुष कृतार्थ होकर, निरतिशय सुख को प्राप्त हुआ, जीवन्मुक्ति का लाभ प्राप्त करके प्रारब्ध के क्षय होने की प्रतीक्षा करता है । ध्यान से देहाभिमान को नाश करके, अद्वय रूप आत्मा को देखता हुआ, मरण धर्मवान् पुरुष अमृत होकर यहाँ ही ब्रह्म को प्राप्त करता है। अर्थात् इसी शरीर में अपेन निजरूप - सच्चिदानन्द रूप ब्रह्म को प्राप्त करता है । प्रत्यक् अभिन्न ब्रह्म के ज्ञान से अविद्या की सम्पूर्ण निवृत्ति हो जाने से, विद्वान् का भावी जन्म नहीं होता ।

विद्यारण्य ने सहिष्णुतापूर्वक अन्य आचार्यों के कथनों को उद्धृत कर और पूर्वपक्ष के रूप में स्वयं प्रस्तुत की गयी शङ्काओं का सम्यक्रूपेण समाधान प्रस्तुत कर प्रकृत ग्रन्थ में अपनी विद्वत्तापूर्ण प्रतिभा का पूर्ण परिचय दिया है । यथार्थ - ज्ञान द्वारा अपना, परमात्मा का एवं जगत् का सम्यक् विवेक हो जाने पर सर्वसंशयरूप दुःखों की निवृत्ति होकर शान्तिरूप आनन्द की प्राप्ति होती है। ज्ञान के अन्तःकरण में प्रकाशित

१. 'द्वैतावज्ञा सुस्थिता चेदद्वैते धीः स्थिरा भवेत् ।
स्थैर्ये तस्याः पुमानेष जीवन्मुक्त इतीर्यते ।।' - (पञ्च, ६/१०२)

२. 'एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति ।
स्थित्वाऽस्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति ।।' - (भ०गी०, २/७२)

होते ही इस शरीर में ही मुक्ति की उपलब्धि होती है।

जीवन्मुक्ति का फल या लाभ यह है कि जीवन्मुक्त व्यक्ति दोषों से रहित, क्लेशों से मुक्त, तापों से शुद्ध, संशयों से निर्मल, विकल्पों से निर्विकल्प, भय से निर्भय, कल्पना से अतीत, केवल आनन्द, शान्ति, समता और मुदिता सहित जीवन व्यतीत करता है । इसकी प्राप्ति न होने पर दुःखों, तापों, विकल्पों, भय और कल्पना सहित आयु व्यतीत होती है।

विद्यारण्य का मत है कि जीव अज्ञान में स्थित ब्रह्म का ही स्वरूप है। माया के सम्बन्ध से चिद् ब्रह्म ही ईश्वर कहलाता है, पुनः अज्ञान रूप में जीव कहलाता है। वस्तुतः जीव और ईश्वर से भिन्न कोई ब्रह्म चैतन्य नहीं है । जब जीव अपनी सीमाओं से मुक्त हो जाता है तो वही ब्रह्मरूप हो जाता है । अतः वेदान्त की यह विचारधारा यहाँ प्रतिष्ठित होती है कि संसार मायारूप भ्रान्तिमात्र है, ब्रह्म ही सत् है, वही चित् है, वही आनन्द है।

साक्षी चैतन्य (कूटस्थ या द्रष्टा) में अधिष्ठित होकर ही भोक्ता जीवात्मा की सम्पूर्ण क्रियायें सञ्चालित होती हैं । स्थूल और सूक्ष्म शरीर के अधिष्ठान के रूप में वर्तमान होने वाले तथा इन दोनों शरीरों के द्वारा अवच्छिन्न होने वाले आत्मा को ही 'कूटस्थ'' कहते हैं । कूटस्थ में कल्पित हुई बुद्धि में चेतन का जो प्रतिबिम्ब है, वही जीव कहलाता है । साक्षीभूत इस अन्तरात्मा की पहचान अविद्या के विनष्ट होने पर ही होती है ।

इस प्रकार स्पष्ट है कि स्वामी विद्यारण्य ने आचार्य शङ्कर द्वारा प्रतिपादित अद्वैतवाद का ही अनुगमन किया है । जीवन के साधना पक्ष पर महत्त्वपूर्ण प्रकाश डालते हुए एक परम साध्य की सिद्धि को ही परम ध्येय माना है। अद्वैतभाव में सुप्रतिष्ठित होना ही सम्पूर्ण साधना का चरम लक्ष्य है। यही मुक्ति का स्वरूप है। संन्यास इसका परम साधक कहा गया है। संन्यास की उपयोगिता पर प्रकाश डालते हुए कहा गया है कि ज्ञान प्राप्त संन्यासी - योगी परमहंस, ही ब्रह्म को प्राप्त करता है । साधन सम्पन्न सम्पूर्ण मुमुक्षु सम्प्रदाय, न कि कोई वर्ग विशेष मात्र इस संन्यास साधना का अधिकारी है ।

आत्मबोध ही मुक्ति का साक्षात् स्वरूप है। विद्यारण्य का मत है कि तत्त्वसाक्षात्कार

१. द्रष्टव्य - पञ्च०, ६/२२।

हो जाने पर भी प्रारब्ध कर्मों का नाश होने तक अविद्यालेश की अनुवृत्ति होने के कारण जीवन्मुक्ति की सिद्ध होती है । विवरणप्रमेयसंग्रह[1] में यही विचार द्रष्टव्य हैं । अतः अविद्या की निवृत्ति होने पर भी जीवन्मुक्ति की असंगति नहीं है । अविद्या की निवृत्ति हो जाने पर भी प्रारब्धवश जीवनधारण होता है। ज्ञानी को प्रीति के बिना प्रारब्ध भोग प्राप्त होते हैं। यहाँ पर स्पष्ट किया गया है कि ज्ञानी को प्रबल प्रारब्धवश प्राप्त भोगों में जो क्लेश होता है, वह सांसारिक दुःख नहीं है, किन्तु इस संसार के प्रति वैराग्य है। पश्चाताप रूप यह क्लेश, संसार का ताप नहीं है, अपितु आसक्तिरहितता रूप विरक्तता ही है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि वेदान्त के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण एवम् आधारभूत प्रत्यय - मोक्ष को विषय बनाकर लिखे गए इस ग्रन्थ में जीवन्मुक्ति के सिद्धान्त की सर्वोत्तम रूप से व्याख्या हुई है।

-----

१. 'तर्हि तत्त्वसाक्षात्कारे जातेऽप्याप्रारब्धक्षयमविद्यालेशानुवृत्त्या जीवन्मुक्तिरस्तु ।'
- (वि०प्र०सं०, १/१, पृ० ३६२)

षष्ठ अध्याय

आज के जीवन में वेदान्त की प्रासंगिकता

जीवात्मा अनादि काल से प्रकृति के प्रवाह में शिवार के समान अणुरूप से नानाविध शरीर धारण करते हुए काल की गति से बह रहा है । जन्मजन्मान्तर कृत साधना[1] संयुक्त अधिकारी[2] शरीर को प्राप्त कर वह मुख्य पुरुषार्थ का सम्पादन करता है । जब तक मनुष्य की आत्मा से मूल अज्ञान नहीं हट जाता, तब तक उसके जीवन का परम आदर्श कदापि साक्षात् रूप से प्राप्त नहीं हो सकता।[3] अतः अज्ञान रूप मूल के निवर्तन हेतु विरक्त मुमुक्ष द्वारा आत्मज्ञान का आश्रय लिया जाता है । अतः आत्मज्ञान मुमुक्षु को सम्पादनीय है ।[4]

दर्शन इसी आत्मज्ञान या ब्रह्मविद्या का विज्ञान है अतः दुःखनिराश एवं परमानन्द की प्राप्ति जैसा महान् उद्देश्य, जिस शास्त्र (अद्वैत दर्शन) का आधार है, उस शास्त्र का महत्त्व स्वतः सिद्ध है । इस सम्बन्ध में इतना ही कहना अलं है कि वेदान्त का अध्ययन मानव को उसके सर्वोत्तम लक्ष्य की प्राप्ति कराकर, उसके जीवन को सार्थक, धन्य किंवा कृतकृत्य कर देता है ।[5] आत्मदृष्टा उस सर्वोपरि तत्त्व (आत्मतत्त्व) को साक्षात् कर चिर शान्ति प्राप्त करते हैं और जीवन-मृत्यु के बन्धन से सदैव के लिए मुक्त हो जाते हैं ।[6] इस प्रकार ज्ञानकाण्ड साक्षात् ही अद्वैत तत्त्व के ज्ञान द्वारा मोक्षप्रदायक है । अस्तु ज्ञानकाण्ड सकल शास्त्रों का शिरोमणि है।[7]

मानव शरीर में ही सर्वक्लेशनिवृत्ति एवम् आत्मस्वरूपोपलब्धि स्वरूपा जीवन्मुक्ति,

---

१. निष्काम कर्म और उपासनारूप भजन ।

२. साधनसम्पन्न मनुष्य । (द्रष्टव्य-वेदान्तसार, अधिकारिनिरूपण ।)

३. द्रष्टव्य - भ०गी०, ५/१५ - "अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः ।".

४. द्रष्टव्य - बृह०उ०, २/४/५ - "आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः ।"

५. द्रष्टव्य - पञ्च, १४/५६-६४ ।

६. द्रष्टव्य - भ०गी०, १५/४, ६ ।
एवं छा०उ०, ८/१५/१ ... ".... न च पुनरावर्वते .... ।"

७. 'न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते ।' -भ०गी०, ४/३८।

प्रत्यक्षरूपेण मनुष्य जीवन की परम उपलब्धि किंवा चरम परिणति है। जीवन का यह सर्वोत्तम (सर्वोच्च) आदर्श है, जिसे प्राप्तकर प्राणी कृतकृत्य हो जाता है ।

वेदान्त ज्ञान से ब्रह्मात्मैक्य हो जाने पर कर्मों से छुटकारा मिल जाता है। ज्ञानी पुरुष के सभी कर्म क्षीण हो जाते हैं।[1] कर्मक्षय से कर्मों के आत्यन्तिक विनाश से तात्पर्य नहीं है, अपितु ज्ञानी के कर्मों में राग-द्वेष का अभाव हो जाता है। स्वभावतः बन्धनकारी कर्म उसके लिए मोक्षप्रदायक हो जाते हैं । उसके कर्मों में नैपुण्य आ जाता है, इसी कर्म नैपुण्य को योग कहते हैं।[2] वह भगवद्भाव से कर्म करता हुआ निरन्तर परोपकार में लगा रहता है। अतः दर्शन हमें क्रियाविहीनता का संदेश नहीं देता, अपितु लौकिक जीवन को उत्तम कर्मों द्वारा समृद्ध करने की प्रेरणा देता है। आध्यात्मिक साधना के आश्रय शरीर एवं साधनाक्षेत्र जगत् की यहाँ उपेक्षा नहीं की गयी है । पारमार्थिक दृष्टि से असत् होने पर भी व्यावहारिक दृष्टि से तो ये पूर्ण सत्य हैं ही, और इनका अस्तित्व प्रत्यक्ष होने से सर्वथा मान्य है । इस प्रकार दर्शन हमें निवृत्त नहीं करता, अपितु एक विशेष परिप्रेक्ष्य में अभ्युदयपूर्ण जीवन जीने का संदेश देता है।

दर्शन बुद्धि का उन्नायक है और शान्ति का अमर वरदाता है । यह जीवन के निःश्रेयस् 'सत्य' का अन्वेषक है और हमारी सांस्कृतिक समस्याओं के निराकरण में योगदान देता है ।

आत्मदर्शन के पथप्रदर्शन के साक्षात् आलोक-स्तम्भ अद्वैत दर्शन में विश्वकल्याण की महती भावना निहित है।[3] अभेद-दर्शन से सर्वत्र समभाव हो जाने पर विश्वबन्धुत्व एवं वसुधैवकुटुम्बकम् के भाव प्रकट होते हैं । प्राणिमात्र में उस एक तत्त्व के दर्शन होने से विरोध एवं वैमनस्य का नितान्त क्षय हो जाता है, क्योंकि जब सभी कुछ अपना ही स्वरूप है, तब भेदभाव अथवा राग-द्वेष के लिए स्थान ही कहाँ ? वहाँ तो सम्पूर्ण पदार्थ एकीभाव-समभाव को प्राप्त हो जाते हैं।

भारतीय प्रज्ञा के मधुरतम एवं सुन्दरतम फल वेदान्त में मानवमूल्यों के उदात्ततम रूपों की परिकल्पना है। वेदान्त सिद्धान्तों पर चलकर सामाजिक विषमता की समाप्ति की जा सकती है। जाति-वर्ग संघर्ष और इसी प्रकार की अनेकों समस्याओं के निराकरण में अद्वैत दर्शन के सिद्धान्त सफल हो सकते हैं। विश्वशान्ति में वेदान्त

१. द्रष्टव्य - मु०उ०, २/२/८।
२. "योगः कर्मसु कौसलम् ।" - भ०गी०, २/५०।
३. वेदान्तदर्शन में विश्वशान्ति के सूत्र विद्यमान हैं ।' -स्वामी तत्त्वबोधानन्द जी ।

का महत्त्वपूर्ण योगदान हो सकता है। समस्त विश्व में ब्रह्मत्व (आत्मवाद) की कल्पना सर्वश्रेष्ठ है। जगत् में एक ही शक्ति है, एक ही ऊर्जा विविध पदार्थों में परिवर्तित हो रही है। एक सूक्ष्म शक्ति से भौतिक सृष्टि का विकास हुआ-इस प्रकार की एकात्मवाद की परिकल्पना सूक्ष्म-सूक्ष्मतम - ऐक्यप्रदायक है । मनुष्य-मनुष्य में ही नहीं अपितु जीवमात्र में साम्य यहाँ वर्णित है। सभी प्राणियों में एक ही चेतन आत्मा है, जो ईश्वर-चेतन तत्त्व का प्रतिबिम्ब है।[1] यहाँ पर एक चेतना द्वारा सम्पूर्ण का तादात्म्य विवक्षित है । जब जगत् में एकत्व है -एक आत्मा के ही विविध रूप हैं - तब कैसा भेद ? कैसा संघर्ष ? जब सब मैं ही हूँ, तो विरोध कैसा ? कैसा द्वेष ? कैसा मोह? उदात्त स्नेह भाव की सृष्टि होती है। आध्यात्मिक विकास के साथ सम्पूर्ण दुःख विनष्ट हो जाते हैं। इस सबके लिए आवश्यकता है - अपने अभिज्ञान की ।

वेदान्त एक सिद्धान्त है, एक अन्तर्दृष्टि है । व्यक्ति के विकास की सम्भावनाएं इसमें निहित हैं । वस्तुतः व्यक्ति के व्यक्तित्व के पूर्ण विकास हेतु ही इसका आविर्भाव हुआ । वेदान्त, मानव को मानवीयता का संदेश देता है । मानवीयता और दिव्यता का अन्तर यहाँ समाप्त हो गया है । दिव्यता व्यक्ति से भिन्न नहीं है, व्यक्ति स्वयं दिव्य है । मनुष्य की सुन्दरतम-उत्कृष्टतम स्थिति ही ईश्वर है।[2] इस प्रकार व्यक्ति की हीनता का अन्त कर, उसे इतना पूर्ण एवं समर्थ व्यक्तित्व वेदान्त प्रदान करता है ।

वेदान्त एक कला है, अनुभव की वस्तु है और जीवन की एक अनुपम धरोहर है । पूर्णता की पहचान - आत्मान्वेषण, वेदान्त का संदेश है । आत्मा और ब्रह्म, जो कि दो नहीं हैं, वरन् एक ही हैं - एक चिरन्तन सत्य हैं । महावाक्यों[3] द्वारा व्यष्टि एवं समष्टि के इस एकत्व को सुष्ठु प्रकार से निर्दिष्ट किया गया है । हम अपने को गौण बना चुके हैं, हम भोगों के दासानुदास बन चुके हैं, इसलिए दुःखी हैं। परम प्रेम

---

१. 'एक एव हि भूतात्मा, भूते-भूते व्यवस्थितः ।
एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत् ।।'-(ब्र०बि०उ०, ११)
एवम्
'एको देवः सर्वभूतेषु गूढः, सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा ।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः, साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च ।।' - (श्वे०उ०, ६/११)

२. 'यत्र काष्ठाप्राप्तिरैश्वर्यस्य स ईश्वरः ।' - (यो०सू०भा०, १/२४)

३. महावाक्य चार है -
प्रज्ञानं ब्रह्म (ऐत० उ०, ५/३) अहं ब्रह्मास्मि (बृह० उ०, १/४/१०)
तत्त्वमसि (छा०उ०, ६/८/७) अयमात्मा ब्रह्म (मा०उ०, २)

के आस्पद[1] एवं सर्वप्रिय[2] आत्मा को हम विस्मृत किए बैठे हैं।

अध्यात्म को छोड़कर, हमने अपनी सारी शक्ति को भौतिक भोगों के एकत्रीकरण मात्र में लगा दिया है, जब कि ये भोग स्वयं हमें भोग रहे हैं ।[3] भोगों के वास्तविक सुख का कारण तो स्वयं ब्रह्म ही है।[4] अतः दुःखों की अनुभूति न हो, इसके लिए ब्रह्माभिन्न आत्मा का ज्ञान प्राप्तकर हम सुखमय जीवन व्यतीत कर सकते हैं। साक्षीभाव द्वारा हमें तनाव से मुक्ति मिल सकती है ।

मानवजीवन में प्रेम, एकता, त्याग और युक्तिसंगत व्यवहार का विशेष महत्त्व है और इन सद्गुणों को वेदान्त का ऐक्य सिद्धान्त कि 'सभी जीव एक हैं', प्रेरित करता है। शुद्ध विचार द्वारा प्रतिष्ठित ज्ञान प्रकाशयुक्त आदर्शों को स्थापित करता है जो जीवन को अधिक पवित्र और शाश्वत आनन्द से मधुमय बना देते हैं। ज्ञानी का जीवन नैतिक होता है, वह नित्य लोकोपकार में निरत रहता है और प्रभु प्रदत्त जीवन रूपी अनुपम धरोहर का शुभ कर्मों द्वारा उचित मूल्य समर्पित करता है । उसमें मनुष्यत्व की प्रतिष्ठा होती है। काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह, माया आदि दोषों से मुक्त उसका अति पावन हृदय सर्वत्र उस महान् महिमा-मय की महनीयता की अनुभूति करता है। सर्वत्र समभाव होने से उसे आसक्ति अथवा राग-द्वेष का अभाव हो जाने से दुःखों की वेदना नहीं होती । ब्रह्माकार वृत्ति में निरन्तर अमृत रस का पान करते हुए ऐसे महापुरुष का जीवन धन्य हो जाता है ।[5]

शाश्वत सुख की खोज में भटकने वाले संतप्त जीव को परमदयालु प्रभु की असीम-अहैतुकी कृपा से, यह देव-दुर्लभ नर-देह इसी अभिप्राय से मिलता है कि वह अपने जन्मजात कुसंस्कारों को प्रवल पुरुषार्थ से मिटाकर, दैवी सद्गुणों की धारणा से, स्वयं ही अपना उद्धारक बन जाए।[6]

---

१. 'इयमात्मा परानन्दः परप्रेमास्पदं यतः ।' - (पञ्च०, १/८)

२. 'आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति ।' - (बृह०उ०, २/४/५)

३. 'भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्ताः ।' - (वै०श०, १२)

४. 'यद्यत्सुखं भवेत्तत्तद्ब्रह्मैव प्रतिविम्बनात् ।' - (पञ्च०, १५/१६)

५. 'कुल पवित्रं जननी कृतार्था वसुन्धरा पुण्यवती च तेन ।
अपारसच्चित्सुखसागरेऽस्मिन् लीनं परे ब्रह्मणि यस्य चेतः ।।' (वे०सि०मु से उद्धृत)

६. 'नृदेहमाद्यं सुलभं सुदुर्लभं प्लवं सुकल्पं गुरुकर्णधारम् ।
मयानुकूलेन नभस्वतेरितं पुमान् भवाब्धिं न तरेत् स आत्महा ।।' (भाग०, ११/२०/१७)

विद्यारण्य जी ने मानव की आन्तरिक तथा बाह्य जीवन के मार्ग को प्रशस्त बनाकर सफल एवं सार्थक जीवन जीने का संदेश दिया है। उपासना रूप कर्म तथा भक्ति को भी उन्होंने ज्ञान के उपकारक रूप में माना है। ज्ञान का कर्म एवं भक्ति से कोई विरोध नहीं है, बल्कि कर्म और भक्ति दोनों ज्ञान के साधक हैं। वर्णाश्रमोचित कर्म करने वाला पुरुष ही ज्ञाननिष्ठा को प्राप्त होता है, इसी प्रकार भक्ति का मधुर रस ज्ञान फल को पूर्ण परिपक्व बना देता है।

इन्द्रियसंयम तथा वासना के परित्याग द्वारा मन का निग्रह कर लेना साधक की अनुपम सिद्धि है। निश्चय से वीतरागभाव ही मोक्षमार्ग कहा गया है । अर्थात् समस्त शुभाशुभ इच्छाओं की निवृत्ति हो जाने पर शुद्ध आत्मस्वरूप प्रकाशित हो जाता है। अतः मुक्ति की सारी साधना इच्छाओं के विसर्जन की साधना है । इच्छाओं से मुक्ति का एकमात्र उपाय वैराग्य है और वैराग्य का हेतु है ज्ञान या सम्यग्दर्शन।

वैराग्य, विवेक और दृढ़ संकल्प-शक्ति वाले व्यक्ति के लिए संन्यास, परम सुख तथा आनन्द का पथ है। इस संन्यास में साधन चतुष्टय सम्पन्न महिलाओं का भी अधिकार है। सच्चा न्यास सभी मनोविकारों, कामनाओं, अहंकार तथा वासनाओं का न्यास है। सच्चा त्याग मन के अस्वीकरण में है । सम्पूर्ण प्रवृत्तियों (विकारों) के केन्द्रबिन्दु चित्त का निरोध जो जाने पर ब्रह्म तत्त्व की अपरोक्षानुभूति होती है । इसी जीवन में व्यक्ति आत्मलाभ करता है। उस जीवन्मुक्त व्यक्ति की विवेकशालिनी बुद्धि सच्चिदानन्दघन परमात्मा में अविचल निष्ठा रखती है और उसका चित्त चपलता का त्यागकर चिन्मात्रस्वरूप परमात्मा में विश्राम लेकर उसी में रम जाता है, इस दृश्य जगत् में नहीं रमता। इस प्रकार एक परमात्मा का ज्ञान रह जाना अटल समाधि या जीवन्मुक्त अवस्था है।

मन की साधना पर विद्यारण्य ने काफी जोर दिया है। अभ्यास और वैराग्य के साधन से शुद्ध मन ध्यानावस्थित हो आत्मतत्त्व को प्राप्त कर लेता है। आचार्य शङ्कर का भी यही मत है।[1]

इस प्रकार आत्मतत्त्व की प्राप्ति की प्रेरणा देने वाला विद्यारण्य का यह ग्रन्थ सफल जीवन दर्शन की स्थापना करता है। जीवन्मुक्ति का आदर्श इसी जीवन में परमानन्द की उपलब्धि का द्योतक है।

---

१. 'यथा सुवर्णं पुटपाकशोधितं त्यक्त्वा मलं स्वात्मगुणं समृच्छति ।
तथा मनः सत्त्वरजस्तमोमलं ध्यानेन सन्त्यज्य समेति तत्त्वम् ।।' (वि०चू०, ३६२)

भारतीय परम्परा में दर्शन जीवन की एक समग्र साधना है। इस सम्पूर्ण साधना का साध्य आत्मा अथवा ब्रह्म का अनुशीलन है । सत्य, शिव और सुन्दर होने के कारण इस साध्य की साधना में ही जीवन की सार्थकता है।[1] अस्तु दर्शन जीवन में उतारने की वस्तु है न कि केवल विवेचन की। लोक समस्याओं का निराकरण कर इसी जीवन में सुख एवं शान्ति की उपलब्धि हमारा लक्ष्य होना चाहिए। अद्वैत ही सर्वथा कल्याणकारी है, उसी सात्त्विक ज्ञान[2] को परमश्रद्धा[3] से ग्रहण करना चाहिए।

-----

१. द्रष्टव्य - डा० रामानन्द तिवारी : भारतीय दर्शन की भूमिका, पृ० १३५ ।
(प्रकाशक - विद्याभवन, जयपुर, १९५८ ई०)

२. भ०गी०, १८/२० ।

३. भ०गी०, ४/३९ ।

सहायक-ग्रन्थ-सूची

संस्कृत ग्रन्थः-

अनुभवानन्दलहरी - केशवानन्दयति (१८००ई०)

अनुभूतिप्रकाश - नि०सा०प्रे०, शक १८०३ ।

ईशादिदशोपनिषद्, शाङ्करभाष्य - मोतीलाल बनारसीदास वाराणसी, १९७८ ई०

उपदेश साहस्री - गायघाट वाराणसी, १९५४ ई०

ऐतरेयोपनिषद्दीपिका - आ०ग्र०, १९३१ ई०।

कालमाधव (कालनिर्णय) - आ०ग्र० १९४२ ई०

कैवल्योपनिषद्

कौषीतकि उपनिषद्

खण्डनखण्डखाद्य - चौ० प्र० वाराणसी ।

गौडपादकारिका - गीताप्रेस, गोरखपुर।

जाबालोपनिषद्- नि०सा० प्रे०।

जैमिनीयन्यायमालाविस्तर - आ०ग्र० १९४६ ई०

तत्त्वप्रदीपिका (चित्सुखी) - षड्दर्शनप्रकाशन प्रतिष्ठान, वाराणसी १९७४ ई०।

तैत्तिरीय आरण्यक

तैत्तिरीयोपनिषद्दीपिका (माधवाचार्य)

तैत्तिरीय ब्राह्मण

दृग्दृश्यविवेक - चिन्मय मिशन कानपुर, १९८१ ई०

नृसिंहपूर्वोत्तरतापनीयोपनिषद् - आ० ग्र० , १९२९ ई० ।

नारायणोपनिषद् - नि०सा० प्रे० ।

नैष्कर्म्यसिद्धि - (प्रो० हिरियन्नार द्वारा सम्पादित सटीक), मैसूर १९२५ ई०।

न्यायसूत्र वात्स्यायनभाष्य - चौ० प्र० [illegible]

न्यायमकरन्द - चौ० प्र० वाराणसी, १९०१ ई० ।

पराशर स्मृति (पराशर माधव) - एशियाटिक सोसायटी आफ बंगाल, कलकत्ता, १८८६ ई०।

पञ्चपादिकाविवरण - म० ग० ओ० सी०, [illegible]

पञ्चदशी - नि०सा० प्रे०, १८[illegible]

बाजसनेयि संहिता
बाल्मीकि रामायण   गीताप्रेस गोरखपुर
बृहदारण्यकभाष्यवार्तिक -   (तीन भागों में) -आ०ग्र०, १८६२-६३ ई०।
बृहदारण्यकभाष्यवार्तिकसार -(दो भागों में) - अ०ग्र० काशी।
संवत् १६६७ एवं १६६६ वि०।

ब्रह्मोपनिषद्
ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्य (सत्यानन्दी दीपिका सहित)-स्वामी सत्यानन्द सरस्वती,
वाराणसी, सं० २०२८ वि०।

ब्रह्मसिद्धि - मद्रास, १६३७ ई० ।
भामती - नि०सा०प्रे०, १६३८ ई०।
महाभारत - नि० सा० प्रे०।
माधवनिदान (माधवकर प्रणीत) - नवलकिशोर प्रेस. लखनऊ, १६५१ ई०।
मनुस्मृति - चौ० प्र० , वाराणसी ।
मुक्तिकोपनिषद्
मैत्रायणीयोपनिषद्
याज्ञवल्क्यस्मृति
योगसूत्रभाष्यसिद्धि - संवित् प्रकाशन, इलाहाबाद, १६७३ ई०।
योगवासिष्ठ - नि०सा०प्रे०, १६३७ ई०।
योगवार्तिक (आ० विज्ञानभिक्षु) - चौ० प्र०, वाराणसी।
रुद्रयामल - सम्पूर्णानन्द संस्कृत वि०वि० वाराणसी, १६८० ई० ।
वेदान्तसार (तत्त्वपारिजात हिन्दी व्याख्या सहित) - सुदर्शन प्रकाशन
इलाहाबाद । १६७५ ई०।
वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावली - मेडिकल हाल प्रेस वाराणसी १८६० ई०।
वैयासिकन्यायमाला - आ०ग्र०, १६५१ ई० ।
विवरणप्रमेयसंग्रह - अ०ग्र० काशी, सं० १६६६ वि० ।
विवेकचूड़ामणि - गीताप्रेस, गोरखपुर ।
विष्णुपुराण - " "
शङ्करदिग्विजय (सानुवाद) - श्री श्रवणनाथ ज्ञानमन्दिर हरिद्वार, सं० २०२४
तथा आ० ग्र० १६३२ ई०।
(प्रकाशक = ...
...रोपनिषद् - नि० सा० प्रे० ।
...०सा० प्रे० १६...

२. भ०गी०, १८/२० ।
३. भ०गी०, ४/३६ ।

श्रीमद्भगवद्गीता (शाङ्करभाष्य) - गीताप्रेस, गोरखपुर, सं० २०३२।

श्रीमद्भागवतपुराण - गीताप्रेस, गोरखपुर।

सर्वदर्शनसंग्रह - चौ०वि०, वाराणसी, १६७८ ई०।

संक्षेपशारीरिक (सर्वज्ञात्म मुनि) - वाराणसी, सं० २०१५।

सांख्यतत्त्वकौमुदीप्रभा - प्रेम प्रकाशन इलाहाबाद , १६७३ ई०।

सिद्धान्तलेशसंग्रह - अ० ग्र० काशी, सं० २०११ ।

सूतसंहिता

सूर्योदय (मासिक पत्र) - वाराणसी ।

हिन्दी ग्रन्थ एवं पत्र-पत्रिकाएँ

अद्वैत वेदान्त - डॉ० राममूर्ति शर्मा- नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली १६७२ ई०।

आचार्य सायण और माधव- पं० बलदेव उपाध्याय, हि० सा०स० प्रयाग, सं० २००३।

आनन्द निकेतन (मासिक)- बरेली ।

कल्याण (वेदान्तांक) - गीताप्रेस, गोरखपुर ।

कल्याण (उपनिषद् अंक) - ” ”

कल्याण कुंज (पाँच भागों में)

दर्शनदिग्दर्शन - राहुल सांस्कृत्यायन - किताबमहल, इलाहाबाद, १६४७ ई०।

धर्मशास्त्र का इतिहास (पाँच भागों में) - प्रो० पी० वी० काणे-उ० प्र० हिन्दी संस्थान, लखनऊ।

नवनीत (मासिक) - बम्बई ।

भामती प्रस्थान तथा विवरण प्रस्थान का तुलनात्मक अध्ययन- डॉ० सत्यदेव शास्त्री, भारतभारती, वाराणसी, १६७८ ई०

भारतीय दर्शन - डॉ० उमेश मिश्र - सूचना विभाग लखनऊ १६५७ ई०

” ” (दो भागों में) - डॉ० राधाकृष्णन्।

” ” - आचार्य बलदेव उपाध्याय ।

” ” - डॉ० देवराज - उ० प्र० हिन्दी संस्थान, लखनऊ, १६७५ ई०

” - प्रो० हिरियन्ना ।

” - डॉ० गैरोला ।

” (पाँ

भारतीय दर्शन - डॉ० दत्त एवं चटर्जी - पुस्तकभण्डार, पटना।
" " - डॉ० राजकिशोर सिंह - विनोद पुस्तक मन्दिर आगरा १९७८ ई।
" " - डॉ० कुँवरलाल व्यासशिष्य- इतिहास विद्याप्रकाशन, दिल्ली, १९८१ई०।
भारतीय दर्शन की भूमिका - डा० रामानन्द तिवारी-विद्याभवन, जयपुर, १९५८ ई०।
भारतीय दर्शन का सर्वेक्षण - प्रो० संगमलाल पाण्डेय - सेन्ट्रल बुक डिपो, इलाहाबाद , १९७६ ई०।
भारतीय संस्कृति और साधना (दो भागों में) - डॉ० गोपीनाथ कविराज - बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना।
मुमुक्षु (मासिक) - वाराणसी , प्रवेशांक - अक्टूबर १९८१ ई० ।
योग वेदान्त (मासिक) - गढ़वाल।
वेदान्त दर्शन - डॉ० पाल डायसन - हिन्दी अनुवादक-प्रो० संगमलाल पाण्डेय उ०प्र० हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, लखनऊ, १९७१ ई०।
विवरणादिप्रस्थानविमर्श- डॉ० वीरमणि प्रसाद उपाध्याय-चौ० प्र०,वाराणसी, १९५६ ई०।
श्री वैष्णवसम्मेलन (मासिक) - प्रयाग।
श्रीशङ्करचरितम् (मासिक) - चिन्मय मिशन प्रयाग, १९७९ ई०।

आंग्ल ग्रन्थ एवं पत्र पत्रिकाएँ-

Brahmavidya -The Adyar library Bulletin Madras. Vol. 25 Vol. 41
Deussen's Systems of Vedant (ET)
Philosophy of Upanishadas (ET) - Deussen.
English Hindi Dictonary - Father Quamil Bulkey
Indian Antiquary.
Indian Historical Quarterly.
Six Systems of Indian Philosophy- Maxmuller.
S... & his Works - Prof. R. Thangaswami M... 1965.

(प्रकाशक - ...
...रोपनिषद् - नि० सा० प्रे० ।
२. भ०गी०, १८/२० ।
...०सा० प्रे० १९...
३. भ०गी०, ४/३६ ।



(आवरण पृष्ठ २ का शेष)

मैं डॉ० गुप्त के ज्ञान एवं अध्ययननिष्ठा से अत्यन्त प्रभावित हूँ। अपनी योग्यता और प्रतिभा से वे अपने गुरुजनों में प्रिय रहे हैं। वे आद्यन्त उत्तम श्रेणी के विद्यार्थी रहे हैं। वेदान्त में उनकी विशेष गति है। प्रस्तुत प्रबन्ध उनका सार्थक प्रयास है।

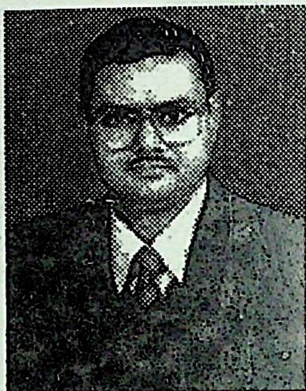
डॉ० सन्तनारायण श्रीवास्तव

सेवानिवृत्त प्रोफेसर, संस्कृत विभाग इलाहाबाद विश्वविद्यालय

सरल, सुबोध शैली में लिखित यह प्रबन्ध एक सराहनीय प्रयास है।

प्रो० देवस्वरूप मिश्र

सेवानिवृत्त वेदान्त विभागाध्यक्ष, वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय



डॉ० विजयनारायण गुप्त

जन्मः कन्नौज जनपद के तिर्वागंज नगर में 3 अगस्त 1956 ई० को

शिक्षाः एम०ए० (हिन्दी, संस्कृत), डी० फिल् ।

लेखनः विविध पत्र - पत्रिकाओं में साहित्यिक - सांस्कृतिक विषयों पर शताधिक विशेष लेख/निबन्ध एवं गीत प्रकाशित ।

अनुभवः सम्पादन, पत्रकारिता, अनुवाद एवं प्रशिक्षण-कार्य ।

सम्प्रतिः उप्र... न्धक (राजभाषा), भारतीय स्टेट बैंक, आंचलिक कार्यालय, कानपुर।

— ...six Systems (सो... ईनग ...नपुर-20

& ...

(प्रकाशक - ... 1965.

२. भ०गी०, १८/२० । ...रोपनिषद् - नि० सा० प्रे० ।

३. भ०गी०, ४/३६ । ...०सा० प्रे० १९...